एक मत

वीर्य अमूल्य निधि है। शक्ति का सार रूप है। वीर्य का निष्कासन करना मानो अकाल मृत्यु का आह्वाहन करना है

दूसरा मत –

यौन प्रवृत्ति एक सहज प्रवृत्ति है। वीर्य निष्कासन एक सहज सामान्य प्रक्रिया है। इस निष्कासन क्रिया को प्रोत्साहन देना हितकर है

और तीसरा ?

यह प्रस्तुत पुस्तक का विवेच्य विषय है।

कामशास्त्र-विषयक मौलिक रचना

यौन-व्यवहार-अनुशीलन

दयानंद वर्मा

YAUN VYAVHAR ANUSHEELAN
by Dayanand Verma
Ist Edition Feb 1968
2nd Edition (revised) March 1970
Price Rs 15/-

प्रकाशक नव चिंतन प्रसार गृह
१६४१, दरीबा कलां, दिल्ली ६

वितरक हिन्दी बुक सेण्टर
दरियागंज, दिल्ली ६

प्रथम संस्करण फरवरी १९६८
द्वितीय (संशोधित एवं परिवर्द्धित) संस्करण मार्च १९७०

मूल्य १५ रुपये

कला पक्ष
रिफार्मा स्टूडियो, दिल्ली

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस
क्वींस रोड, दिल्ली ६

विषय-क्रम

९ यौन प्रसग में श्रेष्ठक भावना

१० यौन आकर्षण के मूलाधार

११ मैथुन का मानक-रूप और अ मानक मैथुन

१२ प्रेम और प्रेम का आवेग

— परिशिष्ट

* * *

दूसरे संस्करण की भूमिका

आज से लगभग दो वर्ष पूर्व इस पुस्तक का प्रथम संस्करण हार्डक्लो पद्धति में मुद्रित हुआ था। विद्वानों तथा पत्र पत्रिकाओं ने इसके बारे में जो प्रतिक्रियाएं व्यक्त कीं उनमें सराहना के स्वर भी थे और इसकी त्रुटियों की ओर संकेत भी। सराहना से मेरा उत्साह बढ़ा और त्रुटियों ने मुझे अपने लेख को फिर से परख करने की प्रेरणा दी। फल स्वरूप प्रस्तुत संस्करण परिमार्जित एवं परिवर्द्धित रूप में प्रकाशित हो रहा है।

इस पुस्तक के बारे में मुझे कुछ प्रतिक्रियाएं ऐसी भी प्राप्त हुई थीं, जिनमें इसके कथ्य से मतभेद प्रकट किया गया था। मेरे स्पष्टीकरण सहित वे प्रतिक्रियाएँ इस पुस्तक के परिशिष्ट भाग में प्रस्तुत हैं।

—दयानन्द वर्मा

प्राक्कथन

आज 'काम' का कार्यक्षेत्र काफी व्यापक समझा जा रहा है। इतना व्यापक कि बच्चे को अँगूठा चूसने में, चोर को चोरी करने में, तपस्वी को तपस्या में लीन रहने में, कवि को कविता रचने में और चितेरे का चित्र बनाने में जो सुख मिलता है उस सुख को काम सुख या काम विच्युति सुख कह कर काम की सर्व व्यापकता मनवायी जाती है।

इतना ही नहीं, मनोविज्ञानी को जहाँ कहीं भी किसी चेष्टा में तीव्रता दिखाई देती है, उस चेष्टा का प्रेरक कारण उनकी समझ में नहीं आता तो वहाँ एक शब्द 'काम' कहकर वह चिन्तन से छुट्टी पाना चाहता है।

आज की यह स्थिति पिछली शताब्दी की तब की स्थिति का जवाब है जब काम को 'घोर पाप' कहकर लोगों को इससे बचने की सलाह दी जाती थी। उस असन्तुलित स्थिति के प्रतिकार के लिए उस युग के चिन्तकों ने काम की सर्वव्यापकता का शंखनाद किया था, जिसके फल स्वरूप समाज असन्तुलन के एक छोर से दूसरे छोर की ओर चल पड़ा था। शायद अब समाज उस दूसरे छोर तक पहुँच गया है। अब इस आवश्यकता का बोध होने लगा है कि पिछली शताब्दी के मनोविश्लेषकों द्वारा प्रतिष्ठित

की गयी काम संबंधी मान्यताओं को एक बार फिर परखा जाए।

उन मान्यताओं की परख के लिए पहला प्रश्न अपने आप से यह करना पड़ता है कि जिन तीव्र चेष्टाओं की प्रेरक मूल शक्ति प्रायः काम समझी जाती है यदि वह शक्ति काम नहीं है तो उस शक्ति का नाम क्या है ?

यह प्रश्न उठाने से मेरा यह आशय नहीं है कि मैं काम की अदम्य शक्ति का महत्त्व नहीं देना चाहता बल्कि मेरा कहना यह है कि इस शक्ति को मैं मूल शक्ति नहीं मानता।

ज्यों ज्यों मैं काम विषय की नयी-पुरानी पुस्तकें और लेख पढ़ता रहा हूं मेरा यह विचार दृढ़ होता रहा है कि जीव की तीव्र चेष्टाओं को प्रेरणा देने वाली मूल शक्ति कोई अन्य है। वह अन्य शक्ति यौन व्यवहारों का नियंता भी है जीव की अन्य तीव्र चेष्टाओं को प्रेरणा भी देती है।

मेरा जिज्ञासु मन अर्से से उस मूल शक्ति की खोज के लिए चिंतन करता रहा है। चिंतन से मैं इस निष्कर्ष तक पहुँचा हूँ कि काम की अदम्य शक्ति के पीछे एक और प्रवृत्ति है। फिलहाल उस प्रवृत्ति का नाम मैंने 'अनुकूलन प्रवृत्ति' रखा है।

इस प्रवृत्ति का बोध होने के बाद मैंने तथाकथित यौन विच्युतियों और विकृतियों से सम्बद्ध घटनाओं को इस अनुकूलन प्रवृत्ति के प्रकाश में परखा है। इससे मेरा विश्वास इस प्रवृत्ति के अस्तित्व के बारे में पुष्ट हुआ है।

सन १९६४ में मैंने इस पुस्तक का मूलअंश — अनुकूलन सिद्धान्त और एक प्रकरण — तथाकथित यौन विच्युतियाँ को रफ से सुवाच्य लिख लिया था। इस सिद्धान्त की प्रेरणा चूंकि मुझे आयुर्वेद दर्शन से प्राप्त हुई थी इसलिए इसकी परख के लिए मैंने अपने ये दोनों प्रकरण आधुनिक चिकित्सा पद्धति के तथा आयुर्वेद शास्त्र के विद्वान वैद्यरत्न श्री शिवशर्मा को भेजे। शर्मा जी ने मेरा उत्साह बढ़ाते हुए मुझे बाद के प्रकरण अवलोकनार्थ भेजने के लिए लिखा। उनके अभिमत से मेरा उत्साह बढ़ा और मैं उसके बाद के प्रकरणों को जो रफ रूप में मेरे पास पड़े थे सुवाच्य रूप देने लगा। वे सारे प्रकरण अब आपके हाथ में हैं।

अनुकूलन सिद्धान्त के बारे में मुझे यह कहना है कि मैं इस सिद्धान्त के प्रति आस्थावान हूँ। परीक्षणों की कसौटी पर परखे जाने पर हो सकता है इस सिद्धान्त की त्रुटियाँ मालूम पड़ें लेकिन त्रुटियों के भय से उसका

प्रसार रोकना मैं उचित नही समझता । इसकी जो त्रुटिया मैं नही जान पाया, यदि अन्य विद्वान जान कर मुझे अवगत करा सकें तो उनका आभार मानूगा ।

यह पुस्तक लिखते समय मैंने इस ओर बराबर ध्यान रखा है कि इसका पाठक अब तक छपी इस विषय की पर्याप्त सामग्री पढ चुका है । मेरी ओर से पूर्व प्रकाशित सामग्री का बार बार हवाला देना उसे अखरेगा ।

इस पुस्तक की भाषा सँवारने मे साहित्य ममज्ञ डा० रामविलास शर्मा तथा भाषा विद डा० बदरीनाथ कपूर ने अपना जो बहुमूल्य समय दिया है, धन्यवाद की औपचारिकता निबाह कर उस कृतज्ञता से मुक्त नहीं हुआ जा सकता ।

—दयानन्द वर्मा

२९६ न्रीबा कलाँ
दिल्ली ६
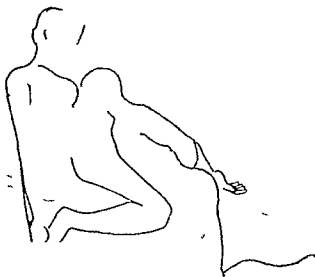
प्रकरण—१

विषय-प्रवेश

कोई किसी को बताए या न बताए, यौवन की देहरी पर पाँव पड़ते ही हर कोई यह जान जाता है कि वह कहाँ आ पहुँचा है। उस देहरी तक पहुँचने से पहले यदि किसी को बता दिया जाए तो उसे विश्वास नहीं होता, लेकिन आयु की वह विशिष्ट सीमा रेखा लाँघते ही इन अविश्वसनीय बातों पर यकीन करने के लिए सहसा ही उसका जी चाहने लगता है। लगता है उन सब बातों के समझ लेने की अन्तर्दृष्टि उसमें आ गयी है। कोई रहस्य है जो उसके अंग अंग में समा गया है। वह रहस्य उसके तन को भेद कर बाहर निकलना चाहता है, किन्तु उसे मार्ग नहीं मिलता। मानो उसकी काया एक अनबूझी-सी पहेली बनी हुई है और उस पहेली का जैसे कोई हल नहीं है।

किशोर और किशोरी की समझ में नहीं आता कि उनमें यह ज्ञान कहाँ से फूट पड़ता है? क्या ये भाव पहले से ही उनमें विद्यमान थे या उनकी अनुभूति उन्हें पहली बार हुई है।

उनकी नजर बदल गया है या संसार ही में कुछ परिवर्तन आ गया है। यह सब क्या है? क्या है?

शरीर विज्ञान उस 'क्या' और 'क्यों' का जवाब देने का प्रयत्न करता है। उस विज्ञान का कहना है कि इन परिवर्तनों का मूल कारण नवयुवकों की युवा सुलभ ग्रंथियों का क्रियाशील हो उठना है।

ग्रंथियाँ सक्रिय हुई और माम्ला की निगाह बदल गयी! क्या ये ग्रंथियाँ ही हमारे यौन व्यवहारों की नियन्ता हैं? मानव आयु के अधिकतम भाग में होने वाली अधिकतर क्रियाओं का संचालन क्या इन ग्रंथियों द्वारा होता है? सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी की यह असहायावस्था!

निस्संदेह! तो फिर इन ग्रंथियों का नियामक कौन है? वह कौन सी प्रवृत्ति है जो निश्चित वय की प्राप्ति पर युवती या युवक की ग्रंथियों को क्रियाशील होने की प्रेरणा देती है?

इसका उत्तर मनोविज्ञान देता है। मनोविज्ञान का कहना है कि मानव की कुछ मूल-प्रवृत्तियाँ हैं। उन मूल प्रवृत्तियों में मुख्य दो हैं। पहली आत्म रक्षण प्रवृत्ति और दूसरी जाति सम्वर्द्धन प्रवृत्ति। पहली प्रवृत्ति मानव को अस्तित्व बनाए रखने के लिए प्रेरणा देती है। दूसरी प्रवृत्ति उसे अपने जैसा जीव उत्पन्न करने के लिए प्रेरित करती है। यह इसी दूसरी प्रवृत्ति का प्रताप है कि सृष्टि का क्रम बँधा हुआ है। सृष्टि का क्रम बनाए रखने के लिए मानव तथा सृष्टि का हर चेतन अर्द्ध चेतन जीव इस कदर दीवाना क्यों है कि अपनी प्रतिलिपियाँ तयार करने में अपनी शक्ति का अधिकांश भाग व्यय करके अपने आपको धन्य मान रहा है। कितनी शक्तिमान है यह प्रवृत्ति! लेकिन उस मूल प्रवृत्ति के पीछे कौन सी शक्ति है जो उसे इतनी तीव्र गति देती है?

मूल प्रवृत्ति का मूल! हास्यास्पद सा लगता है, लेकिन मुझे तो सरसरी नजर से देखने पर एक चिड़िया का अपने बच्चे को पालना भी हास्यास्पद सा लगता है। कहा पढ़ा था कि अपनी नवजात सन्तान को चिड़िया एक दिन में सौ से अधिक बार चुग्गा लाकर खिलाती है। उस बच्चे को खिलाती है, जो बड़ा होने के बाद न अपनी जननी का नाम रौशन करेगा और न अपनी वल्दियत बता सकेगा अपितु पंख लगते ही उड़ जाएगा, फिर से उसे शायद पहचान भी न सकेगा। उस कृतघ्न सन्तान के लिए चिड़िया इतना श्रम क्यों करती है? यदि उसकी इस क्रियाशीलता का कारण ममता समझ लिया जाए तो मकड़ी का जाला बुनना, भौंरे का पराग एकत्र करना, मधु मक्खी का मधु सचय करना, दीमक का बाबी बनाना, चूहे का चीजें कुतरना, बच्चे का निरुद्देश्य तोड़ फोड़ करना—इन

सब क्रियाओं के पीछे कौन-सी प्रवत्ति काम करती है ? इन सब ने गीता के 'निष्काम कर्मयोग'¹ का ज्ञान प्राप्त नहीं किया। फिर कौन-सी शक्ति है जो इन्हें कुछ न कुछ करते रहने के लिए प्रवत्त करती है ?

विषय यदि धर्म का होता तो इस प्रश्न का उत्तर देना अत्यन्त सरल था। एक शब्द 'परमात्मा' कहकर छुट्टी पा ली जाती।

यदि चर्चित विषय 'धर्म' न होकर 'विज्ञान' होता तो भी सुविधा रहती। 'परमात्मा' का पर्याय 'प्रकृति' कहकर बात खत्म की जा सकती थी, किन्तु यहां विषय जिज्ञासा है।

वह जिज्ञासा ही थी जिसने 'जाति सम्वर्द्धन' नामक प्रवत्ति की खोज की। वह जिज्ञासा ही है जो उस सूत्र के मूल तक पहुंचना चाहती है।

मुझे कहने दीजिए कि जाति संवर्द्धन प्रवत्ति हमारी मूल प्रवत्ति नहीं है, बल्कि मूल प्रवत्ति वह है जो सृष्टि के सर्वप्रथम चेतन भौतिक पुंज के प्रथम स्पन्दन का कारण बनी थी।

सृष्टि में सर्वप्रथम चेतना किस रूप में प्रस्फुटित हुई और वह चेतना भेद प्रभेदों में कैसे बंटी ? इन प्रश्नों के उत्तर खोजने की चेष्टा में ही धर्मों और दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ है। इन प्रश्नों का विस्तृत उत्तर देना मूल विषय से दूर चला जाना होगा, अतः सामयिक रूप से इतना मान लेना काफी है कि जीव की प्रथम सहज प्रवृत्ति जीना है। जिस प्रथम स्पन्दित अवस्था में जीव नामधारी भौतिक-पुंज सृष्टि में आया उसी स्पन्दन के जारी रहने की प्रवत्ति ही जीव की कामना है।

'जीव में जीवित रहने की कामना!'

इन शब्दों की गहराई में जाएं तो ये शब्द कम हास्यास्पद नहीं हैं। इससे यह प्रकट होता है कि जीव अपने आपको अपनी इच्छा से चलने वाले यन्त्र से ऊंचे किस्म की कोई वस्तु मानता है जब कि वास्तविकता यह है कि वह एक विशेष स्पन्दित अवस्था में प्रकृति के प्रांगण में ठेल दिया गया एक भौतिक पुंज है जो आनुवंशिक-संस्कारों द्वारा निर्धारित एक अक्ष पर निरन्तर गतिमान है। वह पुंज अपने आस पास के भौतिक-तत्त्वों को आहार के रूप में आत्मसात् करता हुआ अपना आकार बना रहा है। अपने स्पन्दन को नाना रूप दे रहा है। उसकी गतिशीलता में उसकी अपनी इच्छा का कोई महत्त्व नहीं है। बिलकुल वैसे ही, जैसे सूर्य की परिक्रमा

---

१ भगवद्गीता दूसरा अध्याय।

करने म, पृथ्वी नामक हमारे ग्रह की अपनी इच्छा का कोई दखल नहीं है।

'हम जीने की कामना करते हैं' इस वाक्य का दार्शनिक अर्थ यह है कि जिस प्रथम स्फुरणावस्था म हम अवतरित हुए, स्फुरण की वही लय बने रहना हम अनुकूल लगता है। जो अनुकूल है वह सुखकर है। चालित यन्त्र का चलते रहना उसके लिए अनुकूल स्थिति है। उसका रुकना प्रतिकूल स्थिति है। चालित को और तीव्र चलाने के लिए उतनी शक्ति नहीं चाहिए जितनी चालित को रोकने क लिए चाहिए। एक बार जीव का स्पन्दन शुरू हो जाने और आहार के अर्जन विसर्जन द्वारा उस स्पन्दन के गति पकड़ लेने के बाद उस का रुकना जीव की प्रवृत्ति के प्रतिकूल है। मृत्यु इसी प्रतिकूल स्थिति का नाम है इसलिए वह असुखकर समझी जाती है, अत उस असुखकर से पलायन करना भी प्राणी की सहज प्रवृत्ति है।

मृत्यु स पलायन हमारी सहज प्रवृत्ति तब तक है जब तक स्पन्दन की लय म कोई अवरोध नहीं आता। यदि उस लय म अवरोध आने लगे तो मृत्यु की कामना करना सहज लगता है। अत्यन्त रुग्णावस्था म या वृद्धावस्था मे मृत्यु की कामना करने का कारण यही लयहीन अवस्था है।

कम्पन प्राणी के जीवन का आधार है। मुर्गी अण्डा दे रही है चिड़िया गा रही है, पतंगा नृत्य कर रहा है और अमीबा (प्रारम्भिक-सूक्ष्म-जीवाणु) अपने शरीर का विभाजन कर रहा है, जीवो की ये सब क्रियाएँ कम्पन की भिन्न अवस्थाएँ हैं। उस कम्पन का आधार आहार तथा आहार जन्य ताप का अर्जन विसर्जन-चक्र है। हर जीव की आहार चोषण करने तथा विसर्जन करने की क्षमता भिन्न है। अर्जन तथा विसर्जन के ढग भिन्न हैं। यही विभिन्नता प्राणियो के परिमाण, रूप, रंग तथा आकार के भेद का कारण बन जाती है। उदाहरणत अमीबा एक कोशीय जीव है। इस कारणवश अर्जित आहार के शेषांश को मल रूप म विसर्जित करने की क्षमता से हीन है। इसलिए उसका विसर्जन का माध्यम बहुकोषीय जीवो के माध्यम से अलग हो गया है। वर्द्धन की एक सीमा तक पहुँचने के बाद वह अपने अतिरिक्त शरीर को खण्डित करके अपनी अनुकूल स्थिति बहाल कर लेता है। यदि उसम अपने आपको विभाजित कर देने की क्षमता न होती, तो वह सरीसृप से बड़ा आकार धारण कर लेता।

'आकार धारण कर लेता' जैसी कल्पना भी क्यो की जाए प्रागैतिहासिक-काल के विशाल आकार के वे जीव, जो अब लुप्त हो चुके हैं, इसी

अमीबा के उस एक वग का रूपान्तर थे, जो अतिरिक्त अश खण्डित करने की क्षमता से हीन हो गया था।

अपने विषय पर फिर आते हैं। कम्पन का आधार अजन और विसजन का चक्र है। कम्पन की लय एक बार बँध जाने के बाद यह चक्र स्वत चलने लगता है। इसी स्वत चलने की क्रिया का नाम मनोविज्ञान ने मूल प्रवत्ति रखा है। इस दष्टिकोण स जीना—यानी अस्तित्व बनाए रखना तो प्राणी की मूल प्रवृत्ति हो सकती है कि तु जाति सवद्धन प्रवत्ति को मूल प्रव त्ति नहीं माना जा सकता। जाति-सवद्धन प्रवत्ति के पीछे एक और प्रवत्ति काम करती है, उसकी चर्चा अगले पृष्ठो पर 'शक्ति अनुकूलन प्रवत्ति' के नाम से होनी है। यही प्रवत्ति जीव के यौन व्यवहारों की नियन्ता है। इस प्रवत्ति द्वारा यौन व्यवहारों का सचालन कसे होता है, यह आगे की पक्तियों का विषय है।

●

शक्ति-अनुकूलन-प्रवृत्ति[1]

इससे पहले कहा जा चुका है कि जीवन का आधार कम्पन है। कम्पन जारी रखने के लिए जीव को ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है और कम्पन के जारी रहने से नयी ऊर्जा उत्पन्न होती है।

कम्पन की प्राथमिक शक्ति जीव विरासत से लाता है। वह शक्ति इतनी कम होती है कि अधिक देर तक कम्पन जारी नहीं रख सकती। वह कम्पन दीर्घकालिक तभी बन सकता है यदि उस प्राथमिक ऊर्जा के समाप्त होने से पूर्व नयी शक्ति उत्पन्न हो जाए। इसके लिए जरूरी है कि विरासत से मिली शक्ति में से पहले कुछ विसर्जित हो फिर आहार द्वारा अर्जित हो। अर्जन विसर्जन का क्रम एक बार बँध जाने के उपरान्त प्राण यन्त्र का चक्र निर्बाध रूप से चलने लगता है।

नवजात शिशु विरासत से प्राप्त शक्ति का पहला विसर्जन रोदन के रूप में करता है। उसका प्रथम रोदन मानो उसके भीतर के अप्रयुक्त सम्पात को चलाने के लिए पहला धक्का है। उस प्रथम धक्के में जो शक्ति

---

१ शक्ति अनुकूलन पद वातानुकूलन समास के आधार पर बनाया गया है।

विसर्जित होती है, उसकी पूर्ति के लिए वह प्रकृति से जो अंश लेता है, वह उसका आहार है। आहार सृष्टि के उस तत्त्व का नाम है जो जीव द्वारा शोषित होने के बाद शोषक जीव का अंश बन सकने का गुण रखता हो। इस परिभाषा के अनुसार प्रकृति का प्रत्येक अंश किसी-न किसी का आहार है।

शोषित हुए आहार को आत्मसात-योग्य बनाने की व्यवस्था का नाम पाचन संस्थान है। पाचन संस्थान प्रथम आहार ग्रहण के साथ जब एक बार क्रियाशील हो जाता है तो जीवन पर्यन्त सक्रिय रहता है। यदि किसी समय उस संस्थान को चलायमान रखने के लिए जीव में आहार न रहे तो क्षुधानुभूति के रूप में वह संस्थान अपनी आवश्यकता प्रकट कर देता है। आहार फिर भी उसे न मिले तो संस्थान अपना काम बन्द नहीं करता। जो आहार मांस, मेदा, रक्तादि के रूप में शरीर का अंश बन चुका होता है उसे ही पचा कर वह अपनी क्रियाशीलता जारी रखता है।

शरीर में आर्द्रता बनाए रखने के लिए जलीय-तत्त्व की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता का बोध प्राणी को प्यास के रूप में होता है। समाई योग्य जल शोषण कर लेने के उपरान्त जो शेष रहता है, वह मूत्र, स्वेद, वाष्प के रूप में विसर्जित हो जाता है। विसर्जन के बाद अर्जन की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार पुराना पानी निकाल कर नया डालते रहना—यह जल का अपना चक्र है जो जीवन पर्यन्त चलता है।

आहार के स्थूल अंश शरीरांगों के विकास के रूप में प्रकट होते हैं और सूक्ष्मांश शक्ति के रूप में शरीर का ताप बनाए रखते हैं। शरीर में शक्ति समा सकने की भी एक सीमा होती है। समाई योग्य शक्ति के अलावा की एक विशेष अवस्था को प्राणशक्ति कहा जाता है। उस सीमा से बढ़ी हुई शक्ति का विसर्जन होना शरीर का धर्म है।

शरीर की शोषण-क्षमता के अतिरिक्त आहार के जो स्थूल अंश शरीर में बचे रहते हैं वे मल, मूत्र, स्वेद आदि [illegible] रूप में विसर्जित हो जाते हैं और सूक्ष्म अंश ऊर्जा बन कर [illegible] में व्यक्त होते हैं। यदि उन दोनों—स्थूल तथा सूक्ष्म अंशों का [illegible] के अनुकूल मात्रा अनुकूल परिमाण में होता है तो [illegible] सुखद लगने वाले विसर्जनों की पुनरावृत्ति [illegible] है, [illegible] है, [illegible] प्राणी विसर्जन की अनुकूल विधियों का [illegible] जाता है। [illegible] शरीर धर्म के प्रतिकूल होते हैं उनसे [illegible] उत्पन्न करता है, [illegible] उनका अभ्यस्त नहीं हो पाता।

आहार ग्रहण करना विसर्जित ऊर्जा की पूर्ति के लिए जरूरी है। इस लिए यह शरीर धर्म के अनुकूल है, अतः आहार ग्रहण करना प्रथम गुण है। ग्रहण किये गये आहार में से शरीरोपयोगी बन गये तो पाच्य आहार के पाचित होने के उपरान्त शेष का शरीर में रहना शरीर के लिए प्रतिकूल है, अतः उसका विसर्जन यानी मल विसर्जन दूसरे प्रकार का गुण है। आहार के सूक्ष्म अंश—ऊर्जा का एक निश्चित अनुपात की सीमा से बढ़ जाना भी शरीर के लिए प्रतिकूल स्थिति है अतः तीव्र क्रियाशीलता द्वारा ऊर्जा का विसर्जन करना तीसरे प्रकार का गुण है। जरूरी नहीं कि गुण की यह तीनों अवस्थाएं सभी प्राणियों में संतुलित अवस्था में हों। वातावरण की प्रेरणा द्वारा यदि कोई प्राणी किसी एक प्रकार के गुण का अधिक अभ्यस्त हो जाता है तो उसके लिए शेष प्रकार के गुण गौण हो जाते हैं। ये गौण गुण मुख्य गुण के पूरक के रूप में अपनाए जाते हैं।

विसर्जन तब सम्भव है जब शक्ति अर्जित रूप में विद्यमान हो। आहार ग्रहण की क्रिया अर्जन का मुख्य माध्यम है।

यों तो आहार ग्रहण करने और लिए गए आहार को पचाने में भी शक्ति खर्च होती है किन्तु पचाने में जितनी व्यय होती है पचाए जाने के बाद उससे कई गुना अधिक उत्पन्न भी होती है अतः आहार अर्जन का माध्यम समझा जाता है।

अर्जन का माध्यम एक है, किन्तु अर्जित शक्ति के विसर्जन के माध्यम अनन्त हैं। प्राणी कुछ भी करे, इससे उसकी अर्जित शक्ति का कुछ-न-कुछ अंश स्खलित होता है। यदि वह कुछ भी न करे मात्र जिये तो भी कुछ न कुछ शक्ति का ह्रास होता है। इतना अन्तर अवश्य रहता है कि परिश्रम के समय शक्ति के क्षरण की मात्रा अधिक होती है, खाली समय में उससे कम और नींद के समय जब कि प्राण-शक्ति शरीर के सारे अंगों से सिमट कर केवल भीतरी मर्म स्थानों तक सीमित हो जाती है सबसे कम शक्ति व्यय होती है।

यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि कोई व्यक्ति परिश्रम से जी चुराए तो उस मितव्यय से बची शक्ति क्या उसकी प्राण शक्ति को अधिक सबल बना देगी? उत्तर नकारात्मक है। जिस प्राणी की शक्ति शोषण की क्षमता जितनी है उससे अधिक शक्ति का शरीर में संचित होना शरीर धर्म के प्रतिकूल है। अनुकूलन सिद्धांत के अनुसार शक्ति की आय व्यय का लेखा लगभग बराबर होना चाहिए। या तो जीव को शक्ति

मजन के माध्यम घटाने होगे अन्यथा अर्जित शक्ति उसके अनचाहे म ही दूसरे रूप मे विसर्जित हो जाएगी। यदि वह शारीरिक क्रियाशीलता से बचेगा तो मानसिक सक्रियता स्वत ही बढ जाएगी। चि ता, चिन्तन, पश्चाताप आदि मानसिक क्रियाए अनन्त हैं। यदि वह इनमे से किसी मानसिक क्रिया मे शक्ति का क्षय न कर सके तो विक्षिप्त होकर वह विक्षिप्तावस्था के रूप मे अपनी ऊर्जा का विक्षेप करेगा। यदि ऐसी स्थिति भी न आए तो अनोपित शक्ति चर्बी के रूप मे उसकी त्वचा की आड म तह पर तह जमाती चली जाएगी। और उस ठोस शक्ति का बोझ ढोते रहने मे ही धारक भविष्य म उत्पन्न होने वाली अतिरिक्त शक्ति के विसजन की राह खोज निकालेगा।

दूसरा सम्भावित प्रश्न भी है कि यदि कोई व्यक्ति आहार न ले तो क्या वह अपनी शक्ति विसजन की विधिया द्वारा बल-क्षरण जारी रख सकेगा ?

जी हा, जारी रख सकेगा। प्राण शक्ति विघनशील होकर तब तक विसजन क्रम जारी रखेगी जब तक वह बिलकुल समाप्त नही हो जाती।

पहले कहा जा चुका है कि जीव कुछ करे या न करे, शक्ति का विसजन निरन्तर होता रहता है। यह क्रम जन्म से मृत्यु पर्यन्त चलता है। उम्र के अनुसार विसजन के माध्यम बदलते रहते हैं।

विसजन के कुछ माध्यम बाल सुलभ होते हैं, कुछ युव-सुलभ और कुछ वृद्ध-सुलभ। एक उम्र वाले के लिए विसजन का जो माध्यम लोकप्रचलित हो जाता है, दूसरी अवस्था के व्यक्ति के लिए उस माध्यम का अपनाना समाज को अप्रिय लगता है। किस अवस्था म शक्ति विसजन का कौन-सा माध्यम प्रचलित है यह नीचे दिए गए विवरण द्वारा स्पष्ट है—

शैशव

इस आयु म शरीराणु नूतन होते हैं। उनम शोषण क्षमता अधिक होती है। इसलिए आहार द्वारा संचित शक्ति का अधिकांश शरीर के विकास म खप जाता है। विसजन के लिए शक्ति अधिक नहीं बचती। इससे शिशु का जागरण काल, जिसम शक्ति का व्यय अधिक होता है, अल्प होता है और निद्रा काल बडा होता है। कम्पन-चक्र जारी रखने के लिए कुछ-न कुछ विसजन आवश्यक है, अत वह अपनी थोडी बहुत शक्ति रोने, चिल्लाने पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति स मुक्त होने, (हाथ-पाँव

हिलाने डुलाने), हष भय आदि आवेगों के रूप में विसर्जित करता है।

बाल्यावस्था

इस अवस्था में आहार शैशव से बढ़ जाता है, अत शक्ति अधिक संचित होती है। मारने-पीटने तोड़ने फाड़ने, रोने रुलाने कूदने फाँदने पढ़ने लिखने, अनाप शनाप बकने झकने तथा हर्ष भय आदि आवेगों में वह अपनी शक्ति व्यय करता है। शरीर कोषों में चोषण क्षमता अब तक काफी होती है अत अर्जित शक्ति का बड़ा भाग शारीरिक विकास में लगता रहता है।

किशोरावस्था तथा यौवन

इस अवस्था में आहार बाल्यावस्था से बढ़ जाता है जिससे शक्ति बहुत अधिक बनने लगती है। शरीर कोषों में चोषण की जितनी सीमा होती है उस सीमा तक शरीर का पूर्ण विकास हो चुकता है अत शक्ति चोषित कम होती है। आस पास की वस्तुओं के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो चुकी होती है, इसलिए अनावश्यक तोड़ फोड़ की जरूरत भी नहीं रहती। सामाजिकता का अभ्यास हो चुकने के कारण गैर जरूरी लड़ाई झगड़ों से भी आदमी दूर भागता है। सिर पर जिम्मेवारियाँ पड़ जाने के कारण कूदने फाँदने की राह भी करीब-करीब बन्द हो जाती हैं। जीविकोपाजन का एक काम बढ़ता है, किन्तु वह उतनी अधिक शक्ति क्षरित नहीं करता जितनी कि अधिक आहार उत्पन्न करता है, अत शरीर में संचित शक्ति अधिक घनी होने लगती है। जब वह घनत्व विस्फोटक अवस्था तक पहुँच जाता है, तो वह घनीभूत शक्ति कुछ विशेष प्रक्रिया को क्रियाशील बना देती है। फलस्वरूप निगाह बदलने लगती है। एक नये से तनाव की अनुभूति होती है। उस तनाव से मुक्ति पाने की राह खोजी जाती है। कोई एक ऐसी राह जिसमें कम-से कम समय में अधिक से अधिक शक्ति विसर्जित हो सके। वह राह उत्तेजना की होती है।

वह घनीभूत शक्ति प्रक्रिया को कैसे सक्रिय करती है? इस प्रश्न का उत्तर शायद इस समय देना सम्भव नहीं है लेकिन इस दिशा में और अधिक चिन्तन परीक्षण करने पर सम्भव है भविष्य में इस प्रश्न का उत्तर मिल सके।

ऊपर शक्ति विसर्जन के तीव्र निकास मार्ग के रूप में 'उत्तेजना' का नाम लिया गया है। 'मथुन' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। वह इसलिए कि

मथुन तो यौनोत्तेजना के शमन का एक साधन है। यौन उत्तेजना के अलावा भी कुछ उत्तेजनाएँ हैं, जिनकी चर्चा यथा अवसर आगे की जानी है।

मनन, चिन्तन, काम काज तथा मनोरंजन के साधनों के माग द्वारा भी युवक अपनी शक्ति विसर्जित करता है किन्तु विसजन के य अन्य साधन यौनोत्तेजना की तरह सवमान्य नहीं हैं।

प्रौढावस्था

इस अवस्था म कोषाणुओं की शक्ति चोषण की क्षमता का ह्रास होने लगता है, किन्तु शक्ति विसजन के व माध्यम, जो यौवन-काल म अपनाए गये थ, अभ्यासवश छूटते नहीं। फलस्वरूप अजन से विसजन बढ जाता है। ऐस म अनुकूलन बनाए रखने के लिए संचित शक्ति काम आती है। अजन विसजन क्रम म व्यवधान नहीं आने पाता।

वृद्धावस्था

यही वह अवस्था है जब संचित शक्ति समाप्त हो जाती है। अजन क्षमता नष्टप्राय हो चुकी होती है। शरीर के कोष एक एक करके स्पन्दन-हीन हो रहे होते हैं। जस तज रफ्तार स भागी हुई साइकिल, पडल मारना बन्द कर देने के बाद भी पिछली गति के आधार पर कुछ और आगे तक चल जाती है उसी प्रकार वृद्ध जीवित रहने का अभ्यस्त होने के कारण, अजन और विसजन के बीच के छोटे छोटे व्यवधानों के बावजूद भी जीवित रहता है। किसी ऐसे समय म, जब वह व्यवधान कुछ बड जाता है, शरीर के कोषाणु अपना स्पन्दन समाप्त कर देते हैं। यही अवस्था जीव की मरणावस्था होती है।

शैशव, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, यौवन प्रौढावस्था तथा बुढापा —वास्तव म इन अवस्थाओं का उम्र के वर्षों के साथ इतना सम्बन्ध नहीं है, जितना शरीर के अनुकूलन धम के साथ है। साधारणत यौवन की जो आयु समझी जाती है, उस म यदि अजन कम और विसजन अधिक हो तो अपने मानक-समय से पूव प्रौढावस्था आ सकती है और संचित शक्ति के अभाव म प्रौढावस्था के मानक काल मे जरावस्था व्याप्त हो सकती है। प्रौढावस्था तो दूर की बात है, शैशव म ही जरावस्था के लक्षण दिखाई पड सकते हैं।

०

मल-अनुकूलन-प्रवृत्ति

मल जुगुप्सा का जनक समझा जाता है। यौन विषय से सम्बन्धित इस प्रकरण म मल चर्चा असगत सी लगती है। लेकिन इस चर्चा को यहाँ लाना इसलिए पडा है कि पुरुष के युव-सुलभ बाला के निकलने तथा नारी के ऋतुमति होने की क्रियाओं का आधार यही मल अनुकूलन प्रवृत्ति है।

शरीर म अतिरिक्त कुछ भी रहने की गुजाइश नहा होती। आहार म स शरीरांग बनने योग्य तत्त्व शोषित करने के बाद शेषांश को कफ स्वेद मूत्र विष्ठा आदि के रूप म निकाल देना शरीर का धर्म है। मल अनुकूलन की अनियमितता से उत्पन्न होने वाली शारीरिक विकृतियाँ चिकित्सा विज्ञान क परीक्षण का विषय है। उनकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है। प्रस्तुत प्रकरण म हमें मल की मात्र उन क्रियाओं का उल्लेख करना है जो नर तथा मादा की यौन सम्बन्धी शारीरिक विशिष्टताओं की नियामक है।

शरीर धर्म के अनुकूल खान-पान स शरीर का समस्त अनुकूलन-कार्य स्वत होता रहता है। प्रतिकूल आहार अनुकूलन धर्म म बाधक होता है।

हम म से प्रतिरिक्त व्यक्तियों का आहार पूर्णत अनुकूल नहीं हो सकता, इसलिए नियमपूर्वक मल निष्कासन होते रहने के बावजूद मल के कुछ अश देह म रह जाते हैं, जिन्हें न तो हमारा शरीर पचा ही पाता है और न बाहर ही निकाल पाता है। इन अवशिष्ट अंशों को विजातीय द्रव्य कहा जाता है। जब तक ये विजातीय-द्रव्य शरीर मे विरल रूप म रहते हैं तब तक विशेष प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न नहीं होती, लेकिन जब ये किसी स्थान पर सघन हो जाते हैं तो फोडे, फुसी, ज्वर आदि के रूप म इनका निकास होने लगता है। उस निकास के बाद शरीर फिर निमल हो जाता है। अपने अन्दर को स्वच्छ रखना शरीर का धम है। शरीर के इस धम पर, हमारी आस्था होना स्वाभाविक है। परन्तु इस आस्था के डगमगाने का क्षण तब आता है जब माता गर्भवती बनती है।

हम सब जानते हैं कि पुरुष जो शुक्राणु नारी के हवाले करता है वह अत्यन्त सूक्ष्म होता है और नारी की देन डिम्बाणु भी स्थूल नहीं होता। उन दोनों का सयुक्त अणु नारी के गभ म २८० दिन रहकर सात आठ पौंड वजन का शरीरधारी बन जाता है। जो युगुलाणु नौ मास पूर्व नगी आँखों से दिखाई भी न देता था, उसने इस थोडे अर्से म कई पौंड का शरीर धारण कर लिया। वह देह कहीं बाहर से नहीं आयी, वह नारी की देह का ही अश है। उसका विभक्त अश है। ऐसे विभाजन एक औसत नारी जीवन मे दजनों बार करने म सक्षम है और वही नारी इतनी अक्षम भी हो सकती है कि जीवन भर एसा कोई भी विभाजन न कर पाए। ताज्जुब यह है कि न वह घटी दिखती है और न यह बढी हुई दिखाई देती है।

शिशु को जन्म देने के उपरान्त भी नारी का शिशु के प्रति उत्तर दायित्व रहता है। उसी का शरीरांश दुग्ध के रूप म शिशु के आहार की व्यवस्था करता है। इतना निष्कासन करती रहने के बावजूद भी वह स्वस्थ बनी रहती है।

यह सब देखते हुए ऐसा लगता है कि शरीर म कोई ऐसी व्यवस्था रची हुई है जिससे वह अपने म कुछ-न-कुछ अतिरिक्त समा सके। यदि ऐसी व्यवस्था न होती तो शरीरांश का इस प्रकार बराबर विभाजन करती रहने वाली नारी का शारीरिक-सन्तुलन ही बिगड जाता। लेकिन यह सन्तुलन बिगडता नहीं है। उसका कारण यह है कि प्रकृति ने प्रजनन काय नारी के जिम्मे लगाते ही उसम कुछ-न कुछ अतिरिक्त बनते रहने की व्यवस्था भी रख दी है। शुक्राणु धारण करने योग्य आयु तक पहुँचते ही

उसके कद का विकास रुक जाता है किन्तु आहार का शरीरांग के रूप म बनत रहना जारी रहता है। क" म न खप सके शयाश उसके प्रजनन सस्थान तथा उससे सम्बन्धित भागा को सुरक्षित बनाने के लिए उन स्थाना के आस पास रक्त मांस व चर्बी की अतिरिक्त पर्तें जमाने लगते हैं। दूसरे शब्दा म उसके नारीत्व प्रधान अग पुष्ट बन जाते हैं।

गर्भाशय की सुरक्षा के लिए मांस-वसा का पहला प्रलेपन नितम्ब प्रदेश पर होता है। दूसरी पत शिशु के आहारदाता प्रदेश स्तन पर चढती है। यहा की व्यवस्था म खप जाने क उपरान्त बने हुए अतिरिक्त अश रज के रूप म बाहर निकलने लगते हैं और व तब तक निकलते रहते हैं जब तक नारी के गर्भवती होने की सम्भावना रहती है।

जब शुक्राणु और डिम्बाणु का सयोग होता है तब रज को भीतर टिकने का माना एक आधार मिल जाता है। उस समय रज अन्तमुखी होकर सूक्ष्म अणु को स्थूल बनाने लगता है। स्थूल के बाहर आने पर उसे आहार देने के निमित्त वही रज ऊर्ध्वमुखी होकर छाती का दूध बन जाता है। रज के अन्तमुखी या ऊर्ध्वमुखी होने का जब कोई उपयोग नहीं रहता तो वही रज बहिर्मुखी होकर मासिक धर्म बन जाता है।

जिस समय रज को खपाने के लिए शरीर म कोई आधार होता है, उस समय रज शरीर के लिए धातु के समान होता है। उस समय इसका निष्कासन शरीर धर्म के प्रतिकूल होता है। जब खपत का कोई आधार शरीर म नहीं होता, तब वही रज शरीर क लिए मल (विजातीय द्रव्य) हो जाता है। उसका निकलना शरीर के लिए आवश्यक होता है।

नारी म रजस्वला होने का गुण ही उसे गर्भवती बनाता है। यदि उसम यह गुण न होता तो मानव जरायुज न होता। उसकी प्रजनन व्यवस्था अन्य अ-जरायुज जीवो की प्रजनन व्यवस्था की तरह दूसरे तरीके की होती।

अब तक का विज्ञान कद क विकास का कारण कुछ ग्रंथियो को मानता है। परीक्षणो द्वारा यह सिद्ध भी हो चुका है कि उन ग्रंथियों को निष्क्रिय या अधिक क्रियाशील बनाकर कद को सीमित या विस्तृत किया जा सकता है। ग्रंथियो की इस क्षमता पर आपत्ति करना हमारा लक्ष्य नही है अपितु हमारा कहना मात्र इतना है कि उन ग्रंथियो के स्रवन की प्रेरक शक्ति यही मल अनुकूलन प्रवृत्ति है। अतिरिक्त मल या अतिरिक्त शक्ति का घनत्व-विशेष स बढ जाना सम्बन्धित ग्रंथियो का किसी-न किसी प्रकार से नियमन करता है। यह नियमन किस प्रकार होता है इस सम्बन्ध म अतिम रूप से

अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। इस समय यह एक धारणा है, इस धारणा का आधार परीक्षण नहीं निरीक्षण है।

कद के बारे में यह धारणा व्यक्त करने के बाद कुछ प्रश्न उठाए जाने की सम्भावना पैदा हो सकती है। मसलन यह कि नारी के कद का विकास रुकने से जो धातु बिना खपी रह जाती है उससे उसके प्रजनन सम्बन्धी अंगों का कवच बनता है। उसके पश्चात जो तत्त्व बचते हैं, वे रज बनते हैं। लेकिन उस उम्र में पुरुष का न तो कोई अंग ही विकसित होता दिखाई पड़ता है, न ही उसके शरीर से रज जैसा कोई क्षरण होता है। फिर पुरुष का कद यौनापरान्त क्यों रुक जाता है ?

इसके उत्तर में मुझे यह कहना है कि पुरुष भी रज जैसा एक तत्त्व क्षरित करता है, वह तत्त्व है पुरुष की युव सुलभ रोमावली। जिस उम्र में बाला सर्वप्रथम रजस्वला होती है, उसी उम्र में किशोर की मसें भीगने लगती हैं। विकास क्षमता के अनुसार शरीर के विकसित हो चुकने के उपरान्त नारी के शेषांश रजस्राव के रूप में निकल जाते हैं और पुरुष युव सुलभ बालों से अलंकृत हो जाता है।

पुरुष-सुलभ बालों के सम्बन्ध में यह धारणा केवल मेरी धारणा नहीं है। आयुर्वेद दर्शन इस बात को मानता है कि 'श्मश्रु शुक्र का मल है। आयुर्वेद दर्शन इतना संकेत देकर खामोश हो गया है। मैं उस संकेत से सम्भावित सम्भावनाओं पर निरन्तर विचार करता रहा हूँ और मुझे लगा है कि यह संकेत निराधार नहीं है।

पुरुष में 'रज' का पर्याय आमतौर पर वीर्य समझा जाता है, लेकिन ऐसा नहीं है। प्रजनन के दृष्टिकोण से डिम्बाणु और शुक्राणु एक दूसरे के पर्याय समझे जा सकते हैं। रज और वीर्य नहीं। वीर्य शुक्राणुओं का वाहन है, उसकी इस उपयोगिता के कारण उसका महत्त्व है लेकिन डिम्ब को किसी द्रुतगामी वाहन की आवश्यकता नहीं होती। डिम्बाणु को गर्भाशय के आसपास रहकर शुक्राणु की प्रतीक्षा करनी होती है। जब डिम्ब की प्रतीक्षा विफल हो जाती है तो रज उस डिम्ब के शव का वाहन बन जाता है। इस दृष्टि से रज का कार्य क्षेत्र वीर्य के कार्य क्षेत्र से एकदम भिन्न हो जाता है।

यहाँ एक प्रश्न और किया जा सकता है कि यदि पुरुष सुलभ बाल रज का पर्याय है तो नारी कुन्तला को किस श्रेणी में रखा जाए ? शिशु हो या किशोर, पुरुष हो या नारी, उन सबकी पूरी त्वचा छोटे-बड़े रोमों से भरी

हुई होती है। फिर रोम का केवल पुरुष का विशेष गुण क्या समझाए? उसका उत्तर यह है कि पुरुष और नारी के शरीर के बालो मे अन्तर यह होता है कि नारी के बाल अपेक्षया कम लम्बे कम घने होते हैं और पुरुष के बालो की स्थिति इससे विपरीत होती है। कई स्थानो पर पुरुष और नारी दोनो के बाल एक जैसे लम्बे व घने होते हैं जैसे सिर, गुह्यांग के आसपास तथा बगलो के बाल। नर नारी के बालो के बारे मे विचार करते हुए हम यह न भूलना चाहिए कि जिन मूल-तत्त्वो से पुरुष बना है, नारी देह की रचना मे भी वही तत्त्व काम आए है। अन्तर केवल कमी और अधिकता का है अत पुरुषागो के समकक्ष सभी अग नारी मे और नारी अवयवो के समकक्ष सभी अग पुरुष मे विकसित अथवा अर्द्ध विकसित अवस्था मे विद्यमान है। जिस प्रकार नारी अलकार कुच अर्द्ध विकसित अवस्था मे पुरुष के पास है, उसी प्रकार पुरुष के रोम गुण से नारी भी विभूषित है।

रोम शरीर का वह मल है जो न पच सका और ना ही शौचादि के रूप मे विसर्जित हो सका। वह मल या विजातीय द्रव्य नर, नारी शिशु तथा सभी जरायुज जीवो मे होता है। अत रोम सब सुलभ है। लेकिन यहाँ इशारा सब सुलभ रोम की ओर नही है अपितु उन बालो की ओर है जो वय सधि काल मे केवल पुरुष का शृगार प्रसाधन बनते है।

शरीर रचना से सम्बधित ज़रा-सी जानकारी रखने वाला व्यक्ति भी यह जानता है कि हर बाल अपने आप मे एक पूरा वृक्ष होता है। उसकी जड एक स्नेह सिक्त कूप मे डूबी रहती है। वह स्नेह बाल का पोषण और वर्द्धन करता है। साधारण अवस्था मे रोम की जड को जो स्निग्धता मिलती है वह बालो को विशेष स्थूल और विशेष लम्बा बनाने के योग्य नही होती। उसस बालो को उतना पोषण मिलता है जितना सब सुलभ बालो को प्राप्त होता है। जब बाल की जड को अतिरिक्त द्रव्य का पोषण मिलने लगता है तो उससे उन पोषित स्थानो के बाल विशेष घने विशेष मोटे और विशेष लम्बे उगने लगते हैं।

यौवन मे व्यक्ति का आहार बढ़ता है। अधिक आहार से अधिक शक्ति का उत्पादन होता है। शक्ति के अधिक बढ़ने के साथ-साथ विजातीय द्रव्य भी अधिक बनते हैं। वे द्रव्य नारी शरीर मे तो भ्रूण विकास मे खप जाते हैं या रज के रूप मे निकल जाते हैं। किन्तु पुरुष की काया मे ऐसी व्यवस्था नहीं होती अत पुरुष के वे अतिरिक्त द्रव्य उसके शरीर के उन्ही प्रदेशो के रोम कूपो को बल देने लगते हैं जो अन्यथा नारी शरीर मे रज द्वारा

प्लावित समझे जाते हैं। यानी जहाँ नारी के स्तन पुष्ट होते हैं वहाँ पुरुष की छाती घने बालों से भर जाती है। यौवन मे नारी के कन्धे, नितम्ब प्रदेश, पिंडलियां, उँगलियों के पोर, पीठ, कपाल आदि गदराने लगते हैं। पुरुष मे उन्हीं स्थानों के बाल अधिक लम्बे और स्थूल होने लगते हैं।

इस विषय पर विचार करते हुए पशुओं की बालों भरी खाल का ध्यान आना स्वाभाविक है। वस्तुत पशुओं की घनी रोमावली बनने के कारणों पर विचार किए बिना बात पूरी भी नही होती।

जैसे कि हम सभी जानते हैं कि जरायुज पशुओं में, नर और मादा दोनों की देह पर मानव देह की अपेक्षा अधिक घने रोम होते हैं। उसका जो कारण समझ में आता है, वह यह है कि पशु भक्ष्य पदार्थों को, बीज, पत्ते छिलके सहित खा जाते हैं। छिलके और बीज में जीवन-तत्त्व अधिक होते हैं। इससे शक्ति बेशक अधिक बनती है, पर इसके साथ साथ उन पदार्थों के अपचे तत्त्व भी शरीर में अधिक रह जाते हैं। वे तत्त्व सघन रोमावली के रूप मे त्वचा से निकल आते हैं। एक ओर वह रोमावली पशुओं के शरीर की भीतरी व्यवस्था को निर्मल बनाती है, दूसरी ओर सर्दी गर्मी से बचाने के लिए वही रोमावली उनके लिए निवास का काम भी करती है। दो स्थान ऐसे हैं, जहाँ पशुओं के बालों की अपेक्षा मनुष्यों के बाल अधिक लम्बे होते हैं। एक सिर के बाल दूसरे मूछ-दाढी के बाल। दो स्थानों के ये बाल मानव का अर्जित-गुण हैं। कपडों के प्रयोग के साथ इस मानव-गुण का विकास हुआ है जो आज उसका अलंकार बन चुका है।

इस अलंकार को धारण करने की पृष्ठभूमि में पीछे मानव के लाखों वर्षों के संघर्ष का इतिहास है। वह शुरू से ही अपने आकार के अन्य जीवों से शारीरिक बल के मामले में कम शक्तिशाली रहा है। उसका पाचन संस्थान भी अन्य बडे पशुओं के पाचन संस्थान से अधिक कमजोर रहा है। कल्पना की जा सकती है कि आदि मानव अपना पाचन-संस्थान क्षीण होने के कारण कम-कडे भक्ष्य खाता होगा या भक्ष्य-पदार्थों के कडे भाग उतार देता होगा या कडे भक्ष्यों को पकाकर खाता होगा। उसके इस प्रबन्ध के कारण उसके शरीर में अपचे अंश पशुओं के अपचे अंशों की तुलना में कम रह जाते होंगे। रोम नियामक इन अपचे अंशों की कमी के कारण बालों की सघनता के मामले में वह अपने समकालीन पशुओं से पिछड गया होगा। क्षीण रोमावली से वह अपने शरीर को सर्दी गर्मी से पूरी तरह बचा न पाता होगा। उसने अन्य पशुओं के चम उतारकर अपना तन ढापा

होगा। इस तरह अपनी सघन रोमावली की कमी उसने बाहरी आवरण द्वारा पूरी की होगी। उस बाहरी आवरण ने आदि मानव के तन का सम्पर्क प्रकृति से न रहने दिया होगा जिसका फल यह हुआ होगा कि उसकी विरल रोमावली आवरण के प्रयोग के कारण और भी अधिक विरल हो गयी होगी। शरीर का जितना थोड़ा सा भाग आवरण से बाहर रहता होगा, उतने भाग के रोम-कूपों पर भीतरी विजातीय द्रव्य का दबाव बढ़ गया होगा। परिणामतः उसके उस अल्प स्थान के बाल अत्यधिक लम्बे हो गये होंगे। नारी में विजातीय द्रव्य निष्कासन की एक व्यवस्था रज होने के कारण उसके रोम नामी मल के निष्कासन का क्षेत्र सिर बगलों तथा योनि पर्यन्त तक सीमित रहा होगा और पुरुष में इस व्यवस्था के अभाव के कारण, उसका चेहरा भी रोमावली से भर गया होगा।

नर के चेहरे पर एकदम रोम सघनता तथा नारी के चेहरे पर एकदम रोम विहीनता का यह भेद शुरू में शायद इतना न रहा होगा, जितना अब है। अलबत्ता उस भेद की नींव उस समय पड़ गयी होगी। बाद में उस भेद को और अधिक गहरा करने में नर और नारी ने अपने अपने आकर्षण का रहस्य पाया होगा।

यह निश्चयपूर्वक कहा नहीं जा सकता कि आदि मानव ने अपने रोमों की उपज ठीक उसी तरह स्थानान्तरित की होगी, जिस तरह ऊपर कल्पना की गयी है। यह सम्भावना का मात्र एक पहलू है।

किसी सम्भावना का पहले पहल उपस्थापन करते समय उसके सभी पहलू सामने नहीं आ सकते। मसलन यह कि संसार में मासिक धर्म से रहित स्त्रियाँ तथा श्मश्रु विहीन पुरुषों का अस्तित्व भी है। पुरुष सुलभ बालों से युक्त स्त्रियाँ भी हैं जो इस पुरुष गुण से विभूषित होने पर भी गर्भ धारण करने में पूर्णतः सक्षम होती हैं। कुछ नारियाँ रजस्वला हुए बिना जननी बनती भी देखी गयी हैं। और ऐसी नारियाँ भी हैं जो शिशु को स्तन द्वारा आहार देने के काल में भी रजोमती होती रहती हैं। ये सब अवस्थाएँ अपवाद की सूचक हैं।

हाँ! पशुओं के सारे शरीर पर उगे हुए घने बालों की रचना के कारणों पर अधिक चिन्तन अपेक्षित है। उसके बिना मत अनुकूलन सम्बन्धी सभी उपर्युक्त धारणाओं की पुष्टि नहीं हो सकती है। लेकिन यहाँ यह निष्कर्ष सामने आती है कि पशुओं की जीवनलीला मानव ने अपने हाथ में ली हुई है। द्रव्य गुण सम्बन्धी अभूतपूर्व जानकारी के कारण मानव ने अपने

सम्पक म आए सभी पशुओ की शक्ति तथा आयु का हरण करके उन्ह अल्पजीवी और खुद को दीघजीवी बना लिया है। किसी पशु की सारी शक्ति, सारा पुस्त्व अपन उपयोग के लिए खपा डाला है और किसी का सम्पूण रज और रक्त दूध के रूप म दुह लिया है। किसी को गोश्त की खती के उपयुक्त समझ कर उसके समस्त आन्तर को मास का रूप दे दिया है और किसी की पूरी जीवन शक्ति ऊन के रूप म निचोड डाली है। ऐसे स्वार्थी मानव क सम्पक म लाखो वर्षो से आए हुए पशुओ को किसी भी सिद्धान्त रूपी कसौटी पर नहीं परखा जा सकता। और जो पशु मानव सम्पक स दूर समझे जाते हैं गौर करने पर ज्ञात होता है कि वे भी परोक्ष रूप से मानव-सम्पक के अति व्यापक घेरे के भीतर ही हैं।
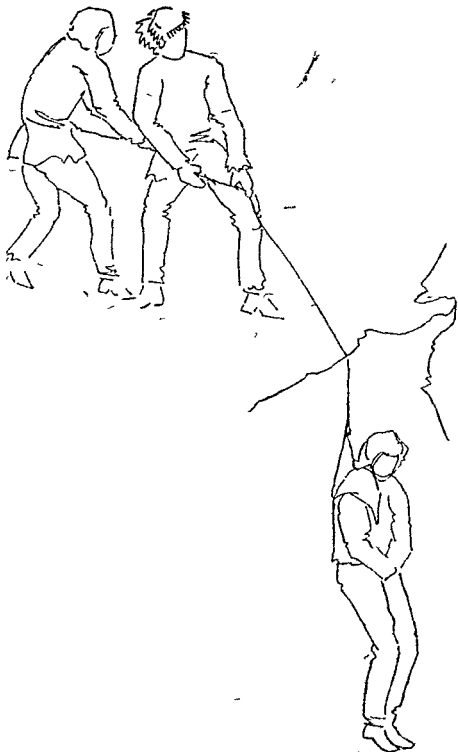
तथाकथित यौन-विच्युतिया

तथाकथित यौन-विच्युतियाँ

काम का जो सर्वव्यापी स्वरूप पिछली और इस शताब्दी के मानस-शास्त्रियों द्वारा स्पष्ट किया गया है उससे नयी पीढ़ी में भ्रम फैला है। यह उसी भ्रम का प्रभाव है जो आज यौन-स्वेच्छाचार को आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा है और यह महसूस होने लगा है कि शायद अब वह समय आ गया है जब काम की सर्व-व्यापकता के सम्बन्ध में प्रचलित धारणाओं का एक बार फिर परखा जाए।

मनोविश्लेषण मतावलम्बी यह मान कर चलता है कि सकल विश्व काम-मय है। इस बात को सिद्धान्त रूप में मान लेने के बाद, यह खोज करना उसके लिए जरूरी बन जाता है कि शिशु में जो विश्व का एक प्राणी है काम का निवास किस रूप में है? पर्यवेक्षण से उसे ज्ञात होता है कि शिशु को अँगूठा चूसना प्रिय है।

'जहाँ सुख है वहाँ 'काम' है"—इस वाक्य पर पूर्ण आस्था रखने वाला वह चिन्तक अँगूठा चूसे जाने की शिशु की क्रिया को यौन क्षेत्र के अन्तर्गत एक क्रिया मान लेता है। वह कहता है—"अँगूठा माता के स्तन का प्रतीक है। स्तन के प्रति शिशु की आसक्ति होती है।" इस बात को

क्या नही होत ? ठीक । यह बिल्कुल वैसे है जसे सभी व्यक्ति चाय, पान जैसी वस्तुओ के आदी नही होत । कोई एक शिशु अँगूठा चूसने का अभ्यस्त बन गया, दूसरा न बन सका—इसका कारण ढूँढन लगें तो कोई एकमात्र कारण शायद हम न ढूढ पाएँ, क्योकि प्रत्येक प्रकट क्रिया के पीछे सूक्ष्म कारण इतन होते हैं कि उन सबका ज्ञान हो सकना किसी भी पर्यवेक्षक के लिए सम्भव नही होता । जो भी निष्कष निकाले जात हैं उनका आधार अनुमान होता है । अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि जो शिशु अगूठा चूसने का अभ्यस्त नही बना, उसका कारण शायद यह हो कि जिस क्षण उसकी उँगलियाँ मुह म गयी हो, उस समय उस सचमुच के आहार की आवश्यकता हो, जो उसे स्तन स मिल सकता हो । उस समय खाली अँगूठा यदि उसके मुह म चला भी जाता तो तत्कालीन आवश्यकता पूरी करने मे असमथ होन के कारण उसम झुझलाहट भर देता । कम से कम वह सुख का आधार नहीं बन सकता था । वह एक क्षण उसके पूरे शशव काल पर हावी हो सकता है ।

जो लोग पूरी शताब्दी से जीव की सभी प्रक्रियाओ की धुरी 'काम' को ही समझते चले आ रहे है उनके लिए एकदम यह मान लेना कठिन है कि किसी सुखद क्रिया के पीछे काम के अलावा भी कोई प्रवृत्ति हो सकती है । जब किसी सुखद क्रिया के सुखद लगने का कारण उनकी समझ में नही आता है तो वे अपन शब्द कोश म से ऐसा शब्द ढूढ लेत हैं जिससे उस क्रिया का काम से सम्बन्ध प्रकट हो जाए । उनके शब्द-कोश म एक पद 'यौन विच्युति' है, जो हर उस क्रिया के लिए प्रयुक्त हो सकता है, जिस क्रिया से सुख तो मिलता है किन्तु मुख्य यौन-कर्म (मथुन) से उसका प्रकटत सम्बन्ध दिखाई नही देता । विच्युति से आशय है—वह लक्षण जो सावभौम रूप से च्युत हो गया हो ।

हर सुखद क्रिया को पहले 'यौन' क्षेत्र म लाना फिर उसके साथ 'विच्युति लगाकर उस उस क्षेत्र से च्युत कर देना, चिन्तन स पलायन करना है । बेहतर यह है कि उस सुखद क्रिया का पृष्ठभूमि देखी जाए । यदि उस क्रिया के पीछे काम के अतिरिक्त कोई और भाव हो तो उस भाव का कोई नया स्वतन्त्र नाम रखा जाए ।

सीधा सा प्रश्न है कि शिशु को कौन-सी क्रिया सुखद लगती है । या शिशु की अतिरिक्त शक्ति के व्यय का माग कौन-सा है ? लेकिन अब तक यो मनोविश्लेषक इस प्रश्न को यह रूप देता रहा है कि शिशु मे काम

शिशु को थका कर उसे परम विश्राति की उस अवस्था म पहुँचाते हैं, जो विश्राति वयस्क का मथुनोपरान्त नसीब होती है।

केवल इन्ही मिसालो से शिशु तथा बालक की सुखद क्रियाओ को यौन विच्युति की श्रेणी से निकलना जल्दबाजी की बात है। कीट-पतगो के जीवन का पर्यवेक्षण कर लेने म कोई हज नही।

बचपन म कीट पतगो के बारे म पढा करता था। पता लगता था कि मधु मक्खियो म कई वग होते हैं। उनम कोई रानी मक्खी होती है, कोई कमकार मक्खी होती है। रानी-मक्खी का काम अण्डे दना और कमकार मक्खी से सेवा कराना होता है। कमकार मक्खी रानी मक्खी के लिए बराबर बोझा ढोती रहती है। यह पढ कर कमकार पर तरस आता था और रानी के भाग्य पर ईर्ष्या होती थी। अब सोचता हू कि शायद व सब अपने अपने काम म सन्तुष्ट होती होगी। अपना स्पन्दन जारी रखन के लिए प्रकृति ने उन दोनो को जिस अवस्था म ठेल दिया होगा, उसी प्रकार ठिलते चल चलना उन्होने अपने जीवन का उद्देश्य मान लिया होगा।

लेकिन रानी मक्खी भी तो निष्क्रिय नही है। अण्डे दकर अपनी शक्ति दूसरे रूप म व्यय कर रही है और कमकार उसके लिए अण्डे दने योग्य वातावरण बनान म क्रियाशील है। यदि इन दोनो म से किसी एक को धन्य मानना हम जरूरी समझें तो बक म जाकर चक भुनाते समय हम उस खजाँची को भी धन्य मानना होगा जिस पर केवल रुपय प्राप्त करन का दायित्व है और उस खजाँची पर तरस आएगा जिसके जिम्मे रकम का सिफ भुगतान करने का काम है। यदि सयोगवश उस समय हमारे साथ ५ ७ वष का शिशु भी हो तो उसे यह जान कर आश्चय होगा कि जो खजाँची करेंसी नोट बाट रहा है उसे उसके इस 'मूखतापूण-कृत्य' के बदले वतन भी मिलता है।

जिस प्रकार खजाँची का व्यवहार शिशु की समझ म नही आता उस प्रकार मधु मक्खियो का व्यवहार हम बडी उम्र के कुछ व्यक्तियो की समझ म नहीं आता। वे मधु का सचय करती हैं, आदमी उनके सचित मधु का छत्ता उतार कर बाजार म बच आता है। मक्खियाँ फिर से नया छत्ता बनाने मे जुट जाती हैं।

लेकिन मानव खुद क्या करता है? उसका सचित मधु जो सम्पत्ति पद, पसा, कारोबार या सुनाम के रूप म अर्जित होता है वह किसके काम आता है? उसे सतान लेती है या वह सचय पत्नी सतान, दामाद, भाई,

देश, जाति या धर्म के नाम आता है। किन्तु यह व्यक्ति जो संघर्ष करता है गुण पर उसका नियंत्रण कम क्यों करता है?

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर की कल्पना करके मन में एक सहारा-सा लगता है। क्या हमारी यह सारी क्रियाशीलता धन का विस्तार है और बाजार का मन। संसार की इसी निस्सारता को देखकर वैराग्य होता है और निवृत्ति भाव को बल मिलता है।

यदि गहरे पैठ कर देखा जाए तो निवृत्ति भी एक प्रकार की प्रवृत्ति है—क्रियाशीलता को उभारने की क्रिया है। निर्वाण मार्गी या वैरागी भी निष्क्रिय नहीं होता। यदि वह सांसारिक सुखों से (मनोरंजन के लिए बनाए गए शक्ति विसर्जन के माध्यमों से) विमुख होता है तो तपश्चर्या, चिन्तन अथवा योगाभ्यास में अपनी शक्ति व्यय कर सकता है।

जो व्यक्ति यौन माध्यम द्वारा सुख प्राप्त करने का आदी है उसे यह बात अजीब लगेगी कि तपश्चर्या सुख का एक साधन है। आम समझ है कि मात्र प्रवृत्ति ही उत्तेजना-जन्य होती है जब कि वास्तविकता यह है कि निवृत्ति की तरफ भी एक प्रकार की उत्तेजना होती है। उत्तेजना की जितनी किस्में हमें अब तक ज्ञात हुई हैं वास्तव में वे किस्में उनसे कहीं अधिक हैं। संसार को एकदम छोड़ देने की क्रिया बिना किसी उग्र आवेग के सम्भव नहीं हो सकती।

उत्तेजना एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा कम समय में या कम शारीरिक-सक्रियता के बावजूद अधिक शक्ति का क्षरण होता है। कोई भी असामान्य काम उत्तेजना की अवस्था में होना सम्भव होता है। उत्तेजित अवस्था अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के रस की देन समझी जाती है। जिस मार्ग की ओर अग्रसर होने की मानव की रुचि होती है उसकी कामना होते ही उन ग्रन्थियों का स्रवण अधिक होने लगता है। रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है। फलस्वरूप व्यक्ति असामान्य रूप से अधिक शक्तिशाली बन जाता है। उत्तेजना यदि भय की हो तो वह पलायन में तेजी दिखाता है। क्रोध की हो तो सामने वाले को पछाड़ देने में सुख मानता है। यौनावेग की हो तो सामाजिक मर्यादाएँ तक तोड़ कर अपनी कामना पूरी कर लेता है और यदि उत्तेजना वैराग्य की हो तो संसार का त्याग करना उसके लिए सम्भव हो जाता है। ग्रन्थियों का काम मात्र इतना होता है कि वे अधिक शक्ति का उत्पादन कर दें। वह शक्ति किस रूप में विसर्जित होती है—यह व्यक्ति के जीवन-दर्शन, अभ्यास और रुचि पर निर्भर है।

बच्चा, मधु मक्खियां और वैरागियों के क्षेत्र से निकल कर कला के प्रांगण में आएँ तो पता लगता है कि कलाओं की साधना भी उत्तेजना के बिना सम्भव नहीं है।

चित्रकार जब चित्र बनाता है, कवि जब कविता करता है या चिंतक जब कोई गुत्थी मन ही-मन सुलझाता है तब वह उत्तेजित अवस्था में होता है। रचना के उस क्षण में टोका जाना, उसे बिल्कुल वैसा ही अखरता है जैसा किसी अभिसारिका को अभिसार-पथ पर जाते समय टोका जाना अखरता है। यदि वह कहता है कि मूड न बनने के कारण रचना पूरी न हो सकी तो उसके कथन का आशय यह होता है कि अभी उसकी उत्तेजना उच्चतम शिखर तक नहीं पहुँची।

आधुनिक मनोविद-जनों ने कला साधना को यौन-उदात्तीकरण की संज्ञा दी है। उदात्तीकरण भी एक प्रकार की विच्युति है, चूंकि वह विच्युति समाजोपयोगी है इसलिए उसे विच्युति की कोटि से निकाल कर अलग नाम दे दिया गया है। इस क्रिया को 'यौन क्षेत्र' की सीमा में बनाए रखने की जरूरत शायद इसलिए समझी गयी है कि काम को मूल माना जाता रहा है। ऐसा मानने वालों को जहाँ कहीं भी तीव्र चेष्टा दिखाई दी है और उस चेष्टा में लगे कर्ता को उन्होंने सुख का आभास करते पाया है, वहाँ उन्होंने 'काम' का निवास मान लिया है।

यह भ्रम इस युग के मनोवैज्ञानिकों का ही रचा हुआ, सो नहीं है। प्राचीन युग के भारतीय चिन्तकों का वीर्य की ऊर्ध्वरेता क्रिया से जो आशय था वह बहुत कुछ यौन उदात्तीकरण से मिलता जुलता था। बाद में हठयोगियों के प्रभाव के कारण उस ऊर्ध्वरेता क्रिया का मानसिक पक्ष छूट गया और शिश्न द्वारा वीर्य पान करने का शारीरिक अभ्यास जुड़ गया[1] और इस भ्रम का कारण यह है कि वीर्य को शक्ति का प्रतीक माना जाता रहा है। शक्ति के उस प्रतीक को ऊर्ध्व-भाग की ओर प्रवाहित करने की क्रिया को ऊर्ध्वरेता क्रिया मान लिया गया।

अनुकूलन सिद्धान्त के अनुसार ऊर्ध्वरेता क्रिया का आशय शक्ति का विसर्जन ऊर्ध्व भाग से होना, यानी चिंतन, मनन, अध्ययन द्वारा शक्ति का व्यय होना है।

चित्रकार चित्र बनाता है, लेखक चित्रण करता है और चिन्तक

---

१ रामयोगी रचित—हठयोग प्रदीपिका ॥ ८३ ८८ ॥

चि तन करता है। वे जब तक अपनी कल्पना के अनुरूप किसी निष्कर्ष तक नही पहुँच पाते—उत्तेजित अवस्था म होते है। उस उत्तजित अवस्था म यदि वे अपना रचना काय स्थगित करें तो उन्ह विश्रांति नही मिल सकता। जब वे अपना रचना काय पूरा कर लेत हैं तो उनकी उत्तेजना शांत हो जाती है। उनके भीतर से किसी प्रकट द्र य का निरास दिखाई नही देता फिर भी उन्हे लगता है, उनके भीतर कुछ अतिरिक्त था जो तग कर रहा था वह निकल गया है। अब व उस परम शाति के अधिकारी बन गये है जो यौन कर्मी को सफल मथुन के उपरा त प्राप्त होती है।

अधो रेता और ऊर्ध्वरेता की चर्चा आग बढाएँ तो हम देखते हैं कि कामाभ्यासी को सामान्य उद्दीपकों से उत्तेजना नहीं मिलती। तनाव की स्थिति लाने के लिए वह उद्दीपन के नित नये उपाय खोजता है दूसरी ओर ऊर्ध्व रेता को सुगम विषयों म मजा नहा आता। अपनी उत्तेजन क्षमता के अनुसार, खुद को उत्तेजित करने के लिए वह जटिल विषयों को पसन्द करने लगता है।

उन उपायों और जटिलता की व्याख्या करने से पूव उत्तेजना की प्रक्रिया को और अधिक समझना होगा। जो व्यक्ति जिस स्तर की उत्तेजना धारण करने का आदी है वह स्तर उसके लिए सावकालिक उद्दीपक नही बन सकता। जो स्नायु जितने तनाव के आदी बन जाते है, लम्बे अर्से तक उतना तने रहना उनके लिए सामान्य अवस्था बन जाती है। सामान्य तो सामान्य है सुख असामान्यता म है। अगली बार पूव जसा तनाव सुख पाने के लिए उत्तेजना प्रेमी को अधिक तनाव की आवश्यकता पडती है। जसे—अफीमची को नशे की स्थिति बनाए रखने के लिए अफीम की गोली को उत्तरोत्तर बडा बनाना पडता है, वसे ही उत्तेजना प्रेमी को किसी भी प्रकार की उत्तेजना का आनन्द लेने के लिए उसके उद्दीपक-धारणा का विस्तार करना पडता है। कामाभ्यासी को भोग आसनों म फेर बदल करना पडता है। परीकथाओं के पाठक को घात प्रतिघात भरे उपन्यासों तक आना पडता है। चित्र प्रमी को मूर्त की अपेक्षा अमूर्त चित्रकारी सरस लगने लगती है। व्याख्याएं पढने वालों को सूत्रों म आनन्द आने लगता है। अमूर्त-कला प्रमी और सूत्र प्रमी को जटिलता म आनन्द इसलिए आता है कि उस अस्पष्ट का आशय अपनी कल्पना के बल पर समझना होता है। समझने म शक्ति का हनन होता है अत उसे एस विषय म रस नहीं मिलता जिसम उसकी पूरी चिन्तन-क्षमता व्यय न हो सके।

रस न आने का कारण यह होता है कि ऊर्ध्वभाग मे जितनी शक्ति व्यय करने का वह आदी होता है, उतनी शक्ति जटिल को समझने म ही व्यय हो सकती है। अपनी चिंतन क्षमता से कम जटिल विषय को समझते समय उसे लगता है जैसे स्नायुओं की प्रत्यंचा पूरी तरह नही चढी।

मनोरंजन के जितने भी साधन हैं, वे सब ऊर्जा विसर्जन के माध्यम हैं। एक साधन-सम्पन्न व्यक्ति को स्वयं नाव खेने से, शिकार के लिए जंगलों म भटकने से और बर्फीले पहाड़ो पर चढने से जो सुख मिलता है वह सुख विसर्जन-सुख है। इस प्रकार के कष्टमय सुख के इच्छुक वही लोग होते हैं, जिनका सामान्य जीवन सुख-सुविधा संपूर्ण होता है। जिनके व्यक्तिगत काम उनके अधीनस्थों के सुपुर्द होते हैं। पेशेवर नाविकों, जंगल-जंगल भटकने वाले लकड़हारों और पहाड़ी-कुलियों को उपयुक्त प्रकार के अभियानों मे रस लेते कभी नही देखा जाता। कष्ट मे रस तो उसे ही मिल सकता है जो हद से ज्यादा आराम करके थका हो। जो काम करते-करते थका है, उसे तो आराम करने म आनन्द मिलता है। उसकी शक्ति अनुकूलन विसर्जन म निहित है इसका अनुकूलन अर्जन मे छिपा है।

जुए म या ताश के खेल म हर खिलाड़ी अपनी ही जीत चाहता है। अगर किसी सिद्धहस्त खिलाड़ी के सामने एक अनाड़ी को बैठा दिया जाए तो वह सिद्धहस्त खिलाड़ी सहज ही म जीत तो जाएगा परन्तु इसे खेल का आनन्द न मिल सकेगा। हार की आशंका होने के साथ तिल तिल करके जीतने म उसे जो सुख मिलता है वह संघर्ष सुख है। संघर्ष म उसकी अतिरिक्त शक्ति का हनन होता है उस हनन विधि का अभ्यस्त बन कर वह जुए को सुख के साधन के रूप म मानने लगता है।

विसर्जन के जिस मार्ग का जो व्यक्ति अभ्यस्त बन जाता है वह समझता है जीवन का वास्तविक आनन्द उसी मार्ग म है अन्य मार्गगामी अपना जीवन वृथा गँवा रहा है।

जिस प्रकार पुरुष-यौन-सुख नारी की अनुभूति सीमा म नहीं आ सकता या नारी यौन-सुख का रसास्वादन पुरुष नहीं कर सकता, उसी प्रकार कामी को ब्रह्मानन्द का और योगी को यौनानन्द का ठीक-ठीक आभास नहीं हो पाता है। ये दोनो प्रकार के अभ्यस्त अपने अपने शक्ति विसर्जन के माध्यम को श्रेष्ठ समझते हैं तथा दूसरों का जीवन निस्सार कह कर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं। इहलौकिक और पारलौकिक सुख के ये दोनो हामी

जीवन पहले की अपेक्षा बहुत तेज है। शिक्षा, चिन्तन व्यायाम, मनोरंजन तथा साहसिक अभियानों के रूप में शक्ति विसर्जन के जितने मार्ग, आज ज्ञात हुए हैं उतने वीर गाथाकाल में नहीं थे। मान-पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए हर व्यक्ति का स्वेच्छा से आज जितना परिश्रम करना पड़ता है, उस समय के गुलामों को शायद उतना न करना पड़ता था। स्वाभाविक था कि उस युग का अभिजात वर्ग आन बान और शान के नाम पर शक्ति खर्च करता। बात बात पर तलवार म्यान से निकाल लेना और मूंछ के बाल की रक्षा के लिए मूंछ सहित सिर कुर्बान कर देना इस युग के व्यक्तियों को अजीब लगता है लेकिन उस युग में इस प्रकार के वीरता भरे कारनामे जीवन में गति लाने के उपयुक्त माध्यम थे। यह उनके शरीर श्रम की आवश्यकता थी।

अब शारीरिक-द्वन्द्वों की अपेक्षा मानसिक-द्वन्द्वों का बोलबाला है। अब तलवार से नीचा नहीं दिखाया जाता, तरकीबों से पटखनी दी जाती है। जीने के लिए बल की नहीं, तकनीक की जरूरत होती है। अतः इस युग में मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए शस्त्र विद्या में पारंगत होने की जरूरत नहीं रही। छद्मविद्या को अपना जीवन-दर्शन बना लेना काफी है। हम मध्यकाल के उन वीरों के कारनामों को मूर्खता-पूर्ण कह सकते हैं, लेकिन हम भूलते हैं कि आनुवंशिकता में हमें उस शताब्दी के लोगों के संस्कार भी मिले हैं। क्रियाशील रहने के लिए विषम वातावरण रचने की थोड़ी बहुत प्रवृत्ति हम सब में है। यह प्रवृत्ति अब पहले जितनी तेज नहीं रही लेकिन बिल्कुल समाप्त भी नहीं हुई। उस प्रवृत्ति की तुष्टि के लिए खेल प्रतियोगिताओं और ताश के खेल आदि के अवसर पर कुछ समय के लिए हम कुछ व्यक्तियों को शत्रु कल्पित कर लेते हैं। एक नियत समय तक उनसे शत्रुता निभा कर, जब अपनी अतिरिक्त शक्ति विसर्जित कर चुकते हैं तो उनसे दोस्ताना हाथ मिला लेते हैं।

संघर्ष रत रहने के लिए जरूरी नहीं कि शत्रु बनाए जाएं। किसी को मित्र, बहन, भाई, पत्नी या संतान बना कर, उसकी सुख सुविधा की व्यवस्था करने के बहाने क्रियाशीलता जारी रखी जा सकती है।

मानव सृष्टि का जटिल जीव है। संतान का पालन-पोषण करने के लिए उसके सामने कई सामाजिक, आर्थिक इहलौकिक, पारलौकिक ध्येय हो सकते हैं। वे सारे ध्येय चिड़िया के सामने नहीं हैं जिनके लोभ में वह संतान को पाले, लेकिन चिड़िया को स्पंदित रहने के लिए कुछ-न कुछ

करता है। कुछ करने का ही एक रूप है संतान के लिए जुटा जाता। क्रियाशील रहने का आधार पाने के लिए मानव भी संतान की कामना करता है। संतान एक ऐसा माध्यम है जिससे पालन-पोषण में व्यय की गयी शक्ति के बदले में उसे प्यार अथवा आदर प्राप्त होता है। या उसके प्राप्त होने की आशा होती है। पालन-पोषण के माध्यम से रूप में किया गया विसर्जन एक गुण है, प्यार या आदर का पात्र बनना दूसरा गुण है। अतः यह दुहरा गुण जीव को संतान पाने का अभ्यस्त बना देता है। यदि इसी प्रकार का प्यार या आदर देने वाला जाति मित्र पड़ोसी या सम्बन्धी से मिलने की आशा हो तो व्यक्ति इनमें से किसी के लिए भी सक्रिय हो सकता है।

यदि व्यक्ति के सक्रिय रहने का कोई आधार न हो तो वह विषम स्थिति में फँस जाता है। कभी उसके मन में आता है कि वह आत्म हत्या करके एक ही बार अपने सारे शरीरांगों को स्पन्दन हीन कर दे। कभी वह कोई विध्वंसकारी मार्ग अपना लेता है। उसकी शक्ति समाज विरोधी कामों में व्यय होने लगती है। विरोध के आनन्द का एक बार आस्वादन कर लेने के बाद वह दूसरा मार्ग नहीं पकड़ सकता। ऐसे आनन्द में यदि वह वृद्धि करना चाहता है तो उसे विरोध करने के लिए उत्तरोत्तर कोई बड़ा क्षेत्र जानना पड़ता है। अपने शत्रुओं की संख्या बढ़ानी पड़ती है।

मनोविज्ञान के तथा शरीर क्रिया विज्ञान के पाठक जानते हैं कि उत्तेजना का कारण प्रणाली विहीन ग्रंथियाँ हैं। एक अर्से तक उन ग्रंथियों का विशेष मात्रा में स्रवित होते रहने से ग्रंथियों की स्रवित रहने की आदत बन जाती है। जब तक किसी व्यक्ति के पास सक्रिय रहने के लिए कोई जीवन दर्शन कोई प्रोग्राम होता है, तब तक उसे कोई परेशानी नहीं होती। ध्येय प्राप्ति के लिए होने वाली क्रियाशीलता में वह उत्तेजना खपती रहती है। परेशानी उस समय होती है जब ध्येय पूरा हो जाता है।

मिसाल के तौर पर एक ऐसे व्यक्ति का केस लेते हैं, जिसने संघर्ष रत रहने का उद्देश्य था प्रेयसी पाना। प्रेयसी उसे मिल गयी। संघर्ष रत रहने का व्यक्ति का उद्देश्य तो पूरा हो गया किन्तु उन ग्रंथियों का क्या हो जो अर्से से एक विशेष मात्रा में रस छोड़ने की आदी हो चुकी हैं? उनका *अभ्यास एकदम नहीं टूट सकता। उनके रस से प्राप्त शक्ति, जो इष्ट* प्राप्ति के काल में व्यक्ति को अत्यधिक सक्रिय बनाती थी, अब वह व्यक्ति को संघर्ष की नयी राह सुझाती है। प्रेयसी से प्रेमी की खटपट होने लगती

है। उस खटपट मे प्रेमी अपनी अतिरिक्त शक्ति का विसर्जन करने लगता है। या वह अधिक क्रोधी या अधिक कामी बन जाता है। यदि स्थिति दूसरी होती है यानी प्रेयसी प्राप्त नही होती। वह मर जाती है या बेवफा साबित होती है तो ध्येय ही समाप्त हो जाता है। उस दशा म व्यक्ति अजीब स्थिति म फँस जाता है। यदि वह रचनात्मक प्रकृति वाला होता है तो वह किसी दूसरे रचनात्मक काम म अपनी शक्ति व्यय करने लगता है। मसलन प्रेयसी प्रेमी की बजाय विश्व धम या जाति प्रेमी बन जाता है। पुरानी परिभाषा के अनुसार उसका ध्येय बदलना यौन विस्थापन है किन्तु नयी मान्यता के अनुसार हम कह सकते हैं कि उसका शक्ति अनुकूलन का माध्यम बदल गया है। यदि वह व्यक्ति विध्वंसात्मक प्रकृति का है तो अपने आपको झुंझलाहट की स्थिति म बनाए रखने के लिए वह संसार की हर नारी स घृणा करने लगता है। झुंझलाहट, पश्चाताप, क्रोध आदि भावनाएँ भी शक्ति निष्कासन का माध्यम है। एक और स्थिति यह भी हो सकती है कि ग्रन्थियो के रस का प्रभाव नष्ट करने के लिए वह किसी मादक द्रव्य का प्रयोग करने लगे। मादक द्रव्य एक प्रकार का विष है। उस विष का प्रभाव नष्ट करने के लिए भीतरी संस्थान को उसका निरोधक विष तैयार करना पडता है। बाह्य विष से आन्तरिक विष का संघष होने लगता है। इस प्रकार संघष का क्षेत्र बाह्य जगत से बदल कर आतर जगत हो जाता है। मादक विष और निरोधक विष, दोनो का एक-दूसरे के आश्रित हो जाने की स्थिति को ही बोलचाल की भाषा म नशे की आदत कहा जाता है। उस दशा मे यदि किसी समय मादक द्रव्य का प्रयोग बाहर से बन्द हो जाए तो निरोधक विष अपने शमन के लिए मादक द्रव्य की माग करता है। वह माँग आदी की बेचैनी के रूप म प्रकट होती है।

अब अंत म प्रमुख समझी जाने वाली यौन विच्युति कामचौय की चर्चा करनी आवश्यक है। समझा जाता है कि चोर को चोरी करने से जो सुख प्राप्त होता है वह काम सुख है। लेकिन मेरा कहना है कि चौय वृत्ति का कामोत्तेजना से कतई सम्बन्ध नहीं बल्कि उसका सम्बन्ध भय की उत्तेजना से है।

कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति जंगल म जा रहा है। अचानक ही उसका सामना एक शेर स हो जाता है। शेर से मुकाबला करने या उससे पलायन करने के लिए उसे सामान्य से अधिक शक्ति चाहिए। वह शक्ति उसे ग्रन्थि रस द्वारा प्राप्त हो जाती है। उस परिस्थिति से जब वह जीवित बच जाता

है, तो उसे लगता है कि उसकी जान में जान आ गयी। वास्तव में हुआ यह था कि शारीरिक शक्ति का एक बड़ा भाग वह भय के कारण खर्च कर चुका था, तब के उस क्षण उसे लगा कि उसकी जान ही निकल गयी और जब वह सुरक्षित स्थिति में पहुँच गया तो उसे महसूस हुआ जैसे उसके शरीर से अतिरिक्त शक्ति का बोझ उतर गया। एक प्रकार का हल्कापन छा गया। विसर्जित शक्ति का आभास उस शक्ति के व्यय के बाद सुरक्षित स्थिति में आने पर हुआ। इससे उसे नयी-सी शान्ति महसूस हुई। अब सोचना यह है कि यदि उस व्यक्ति को शान्ति की यह अवस्था इतनी प्रिय लगने लगे कि वह उस हल्केपन की कामना करने लगे तो क्या वह बिल्कुल वैसी स्थिति फिर से लाना चाहेगा ?

नहीं, वह व्यक्ति पूर्ण रूप से वैसी पुनरावृत्ति नहीं चाहेगा। भय की स्वेच्छित-पुनरावृत्ति के समय वह कुछ परिवर्तन भी कर लेना जरूरी समझेगा। यदि वह शेर का सामना करना चाहेगा तो वह मित्रों और शस्त्रों से सुसज्जित होकर शिकार खेलने चल देगा। यदि इस प्रकार की पुनरावृत्ति के लिए उसके पास पर्याप्त साधन न होंगे तो वह भयानक पुस्तकें पढ़ने लगेगा। भयानक फिल्म देखेगा, रोमांचक प्रतियोगिताओं में रस लेगा अथवा साहसिक अभियानों में आनन्द पाएगा।

साहसिक अभियान' भय नामक उत्तेजना की स्वेच्छा-पुनरावृत्ति के अलावा और क्या है ? यदि भय की इच्छा के साथ लाभ की कुछ मात्रा का समावेश भी हो जाए तो इस मिली जुली उत्तेजना का अभ्यस्त व्यक्ति बड़ी आसानी से चोरी का आदी हो सकता है। चोरी एक ऐसा साहसिक अभियान है जिससे आनन्दित होने के लिए अधिक साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती।

चोरी के आदी को बचपन से ही एक विशेष प्रकार की आशंका से व्याप्त रहने में सुखानुभूति होने लगती है। भय की उस अवस्था से इच्छानुसार व्याप्त होने के लिए अभ्यस्त-व्यक्ति कभी नौलखा हार उड़ा लेता है कभी चम्मच चुरा लेता है। कहीं कोई देख न ले कहीं पकड़ा न जाऊँ—ये आशंकाएं उसे उत्तेजना शिखर तक पहुँचाने वाली प्राक्क्रीडाएँ होती हैं। जब ऐसी आशंकाएँ निर्मूल हो जाती हैं वह कुछ चुरा लेने में सफल हो जाता है तो उत्तेजना शान्त हो जाती है। जब वह सुरक्षित स्थिति में पहुँचता तो अतिरिक्त शक्ति के विसर्जन का आभास हल्केपन के रूप में उसे होता है। उसे लगता है जैसे उसे परम शान्ति प्राप्त हो गयी है। वैसी ही

प्राप्ति वह जब पाना चाहता है, कुछ चुरा कर पा सकता है। वह कौन-सी वस्तु चुराता है कितने व्यक्तियों की मौजूदगी में चुराता है—यह उसके उत्तेजन क्षमता के स्तर पर निभर है।

अब तक चोरी को काम विच्युति का एक रूप माना जाता रहा है। इस भ्रम के बने रहने का कारण यह है कि इस भ्रम के पोषकों ने काम के अतिरिक्त और किसी सुख साधन की कल्पना न की थी। यह भी हो सकता है कि अपनी मान्यताओं की स्थापना के संक्रान्ति काल में उन्हें इतना समय न मिला हो कि वे भय से संयुक्त अन्य उत्तेजनाओं तथा यौनोत्तेजना को अलग अलग शब्द दे सकते।

'यौन सुख' तथा 'शक्ति विसर्जन सुख' को एक-दूसरे का पर्याय समझ लेने से कुछ नये भ्रम पैदा हो सकते हैं। उनका निवारण अभी से किया जाना जरूरी है।

उदाहरणतः यदि कोई व्यक्ति चिन्तन द्वारा अपनी शक्ति क्षरित करता है या तपश्चर्या को शक्ति विसर्जन का मार्ग समझता है या भय की उत्तेजना के रूप में अपनी शक्ति का विरेचन करता है तो अनुकूलन सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार यौन-क्षेत्र में उसे नपुंसक बन जाना चाहिए। लेकिन ऐसा होता नहीं है। विश्व में ऐसे व्यक्ति हैं जो शारीरिक रूप से परिश्रमी होने के साथ साथ चिन्तक भी हैं। चोरी के अभ्यस्त व्यक्ति यौन क्षेत्र में भी पूरी भूमिका निभाते हैं। वीर और तपस्वी होने के गुण भी एक ही व्यक्तित्व में कभी कभी देखे जाते हैं। यह सब देखकर लगता है कि प्रत्येक औसत-व्यक्ति अतिरिक्त शक्ति विसर्जन के चाहे अन्य किसी भी माध्यम का अभ्यस्त हो, वह थोड़ा बहुत यौन—सुख पाने की कामना अवश्य करता है।

यह क्यों और कैसे होता है, इसका उत्तर देते हुए हमें आनुवंशिक संस्कारों की महत्ता को समझना होगा। हमारे पूर्वजों द्वारा शक्ति विसर्जन के लिए अपनाई गयी सभी क्रियाएँ, जिन्हें प्रवृत्तियाँ कहा जाता है, हममें विद्यमान हैं। पीढ़ी दर-पीढ़ी चली आ रही आदतें ही प्रवृत्तियाँ हैं। वे सब प्रवृत्तियाँ हर मानव में सुषुप्तावस्था में मौजूद रहती हैं। वातावरण में सभी प्रवृत्तियों को प्रेरित करने वाली प्रेरणाएँ हैं। हमारी चेतना के अंकुरित होने के अवसर पर जो प्रेरणा प्रबल पड़ जाती है उससे सम्बन्धित प्रवृत्ति हमारी मुख्य प्रवृत्ति बन जाती है। अभ्यास द्वारा उसका विकास करके हम उसके अभ्यस्त हो जाते हैं। अन्य प्रवृत्तियाँ हम में गौण रूप में बनी रहती हैं, मसलन जिसे हम कामाभ्यस्त मानते हैं वह इस हद तक चित्रकार

यौन-प्रवृत्ति और उस पर सामाजिक-प्रभाव

यौनावेग प्रबल क्यो ?

मानव को जो प्रवत्तिया सस्कार रूप म प्राप्त हुई हैं यौन प्रवृत्ति का उन सब मे अपना अलग महत्त्व है। साहित्य शास्त्र न यौन विषयक-वणन 'शृगार' को रसराज की उपाधि दी है और धम-ग्रथो ने जीव को नरक म पहुँचाने वाले तीन मुख्य द्वारो[1] म 'काम' को नरक का प्रथम द्वार करार देकर मानो नकारात्मक स्वर म इस प्रवृत्ति के महत्त्व को स्वीकार किया है। यह इसी तीव्र आवेग का प्रताप है कि जीवाणुओ को समस्त रोगों का मूल कारण मानने वाला जीवाणु विज्ञानी भी रमण-काल म अपना विज्ञान भुला देता है और यौन-सहकर्मी के होंठो से होठ मिला कर सांसों के माध्यम से जीवाणुओं का विनिमय करने म वह कोई हज नहीं समझता। उच्चवण का दम्भी व्यक्ति तीव्र-यौनावेग के क्षणो म निम्न-वण, निम्न-जाति या निम्न-वग के यौन-पूरक का अपना परम प्रिय समझ लेने के लिए तत्पर हो जाता है और शुद्धाशुद्ध का विचार रखने वाल

---

1 हिन्दू धमग्रथो म नरक म पहुचाने के तीन मुख्य द्वार य कहे गय हैं—1 काम 2 क्रोध, 3 लोभ।

धर्मशास्त्र नाता यौनावेग के क्षणों के लिए नियमाम्य "शुचि स्त्रीणां"² जैसे श्लोकांशों को अपना दर्शन बना लेता है। और तो और, संयमित जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देने वाले अधुन निर्ग्रन्थ धर्मोपदेष्टा को भी अपना उपदेश लोकप्रिय बनाने के लिए अप्सराओं या हूरों से भरे एर स्वग की कल्पना प्रचारित करनी पड़ती है। उसे अपने अनुयायी से यह वादा करना पड़ता है कि यह इस लोक में संयमित जीवन बिताने के बदले में उस परलोक में असंयमित जीवन व्यतीत करने का अवसर दिलाएगा।

यह सब कुछ देखते हुए यह अचम्भा होता है कि जीव की यह गौण आवश्यकता जीव की मुख्य आवश्यकता 'आहार' से अधिक अनिवार्य क्यों दिखाई देती है। इस क्यों का उत्तर यह प्रकरण है।

जो भी कार्य शरीर धर्म के अनुकूल होता है उसके निर्वाहित होने में सुख की अनुभूति होती है। जब भूख लगी हो तो भोजन करना एक सुखद क्रिया है। सर्दी लगने पर कपड़े ओढ़ने में सुख प्राप्त होता है। प्यास के क्षण में जल पीने जैसा सुख अन्यत्र नहीं मिल सकता। उन क्षणों में, जब अतिरिक्त शक्ति विसर्जन के लिए राह तलाश कर रही होती है उस शक्ति को यौनोत्तेजना के रूप में विसर्जित करने से जो सुख मिलता है वह अन्य सभी सुखों से भिन्न है।

यौनोत्तेजना में विभोर होने या खाने पीने, ओढ़ने की क्रियाओं से शरीर में अनुकूलता आती है। अनुकूलन बनाये रखने के लिए प्रवृत्त करने वाली ये सारी प्रवृत्तियाँ शरीर के लिए एक सी महत्त्वपूर्ण होती हैं लेकिन यौन प्रवृत्ति अधिक महत्त्वपूर्ण दिखाई देती है। उसे महत्त्व मिलने का कारण यह है कि सामाजिक-वातावरण में इस प्रवृत्ति से सम्बंधित प्रेरणाएँ बहुत अधिक हैं। मसलन वाजीकरण औषधियाँ शृंगार रस के नाटक तथा फिल्में शृंगार प्रसाधन, काम पुस्तकें नर मादा की शारीरिक विषमता को अधिक उभारने वाले आवरण और उन आवरणों को धारण करके आकर्षक दिखने की होड़ में एक दूसरे से बाजी ले जाने वाले असंख्य चेहरे। इस प्रकार के यौनोत्तेजना प्रेरक साधन व्यक्ति को उद्दीप्त करने के लिए जिम्मेवार हैं। दूसरी ओर उस उद्दीपन को शान्त करने वाले साधनों पर सामाजिक वर्जनाएँ हैं। मसलन उद्दीपन का कारण बनने वाली उन असंख्य इकाइयों में से किसी एक से या कुछेक से ही यौन-सम्बन्ध

---

२ स्त्रियों का मुख सदा पवित्र होता है—मनुस्मृति ॥१३॥

रखने की सामाजिक अनुमति मिलती है। वह अनुमति प्राप्त करने के लिए व्यक्ति का अर्थ, वय, वर्ग तथा सामाजिक स्थिति सम्बन्धी कुछ शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं। वह आज्ञा प्राप्त कर लेने के उपरान्त भी यौन सम्पर्क हर समय, हर स्थान पर नहीं किया जा सकता। एक ओर प्रेरकों की अधिकता, दूसरी ओर तृप्ति साधनों पर रुकावटें, यह विषम स्थिति काम के स्वाभाविक आवेग को अस्वाभाविक बना देती है। इस प्रकार के विषम वातावरण में रहने वाले मानव की काया उस बांध (डैम) जैसी बन जाती है जिसमें जल का भंडार भरने की राह अधिक हो, किन्तु उस जल के निकास के लिए मार्ग अत्यन्त संकुचित रखा गया हो। कुण्ठित पानी संकरी राह से छुटकारा पाने के समय अत्यधिक वेगवान हो जाता है। उस जैसा वेग वर्जनाओं से भरे समाज में रहने वाले मानव के यौन आचरण में दिखाई देने लगता है।

कहा जा सकता है कि मात्र यौन प्रवृत्ति को जगाने वाली प्रेरणाएँ ही समाज में नहीं हैं। क्षुधा पिपासा आदि अन्य आवेगों को प्रबल बनाने वाली प्रेरणाएँ भी समाज में हैं। हलवाई, बेकर तथा फल सब्जी, मांस आदि के विक्रेता अपनी अपनी श्रेय वस्तुओं का प्रदर्शन प्रभावकारी ढंग से करके भूख के सामान्य आवेग को असामान्य बनाते हैं। फिर भी वह आवेग कामावेग जितना प्रबल नहीं बनता। उसका एक कारण यह है कि ऊपर कहे गये आहार विक्रेताओं में अपनी श्रेय वस्तुएँ सजाने की उतनी तन्मयता नहीं होती, जितनी तन्मयता पुरुष या स्त्री को अपने आप को सजा सँवार कर प्राप्तव्य बनाने की होती है। दूसरा यह कि खाने-पीने के नियमों के प्रति समाज का रुख इतना कड़ा नहीं होता, जितना यौन सुख प्राप्त करने के नियमों के प्रति होता है। इसलिए अन्य प्रवृत्तियाँ उतनी अस्वाभाविक नहीं बन पातीं, जितनी यौन प्रवृत्ति बन जाती हैं। यदि समाज भूख बुझाने के माध्यमों पर भी उतने ही प्रतिबन्ध लगाये, जितने वह यौन-सुख प्राप्त करने के माध्यमों पर लगाता है तो भूख नामक स्वाभाविक प्रवृत्ति का रूप बदल जायगा। मिसाल के तौर पर किसी भूखे व्यक्ति के सामने भोजन परोस दिया जाए लेकिन जब वह खाने के लिए हाथ बढ़ाए तो यह कहकर उसके सामने से थाली उठा ली जाए कि यह तुम्हारे लिए नहीं है। तो उस व्यक्ति के अन्तरतम में भूख के आवेग के अतिरिक्त तृष्णा का भाव जागेगा। थोड़ी देर बाद उससे बढ़िया आहार उसके सामने रखा जाए साथ ही उसे खाने का निषेध कर दिया जाए, तो तृष्णा के साथ साथ ——

निराशा का भाव भी जागत हो जायगा। तीसरी, चौथी पाँचवी छठी, सातवीं, सौवीं और हजारवीं बार भी यदि इसी प्रकार से पहले प्रदर्शित करने फिर वर्जित करने की क्रिया दुहराई जाती रहे तो निराश मनोवृत्ति के व्यक्ति का भोजन के प्रति विराग भाव उत्पन्न हो चुका होगा और प्रयासी-व्यक्ति की क्षुधानुभूति तृष्णा और क्रोध की सीढ़ियाँ लाँघकर एक प्रकार की हिंसक प्रवृत्ति को जन्म दे चुकी होगी। उस समय आहार भक्षण करने म उसे उतना सुख न मिलेगा जितना उस आहार पर झपट कर उसे प्राप्त करने म मिलेगा।

यह था सामान्य आवेग के असामान्य बनने की प्रक्रिया का एक प्रकार का चित्रण। अब दूसरे प्रकार का चित्रण प्रस्तुत है। उदाहरणत एक सामान्य-व्यक्ति को तीव्र भूख के क्षणों म भक्ष्य वस्तु दिखाई द जाती है किन्तु उसे पाने या खरीदने की उसम सामर्थ्य नहीं होती तो उस अप्राप्य को प्राप्त करने की अभिलाषा उस म बस जाती है। उसके सामान्य जीवन की गति म प्रकटत कोई अन्तर दिखाई नहीं देता, किन्तु भीतर ही भीतर उस अतप्त अभिलाषा का पोषण होता रहता है। उस अभिलाषा के अस्तित्व का भान उस समय होता है, जब वह ऐसे क्षण पुन उसी अप्राप्य वस्तु को देखता है जब वह उसे प्राप्त करने म समर्थ होता है। यदि उस क्षण उसे भूख न लगी हो तो भी वह उस वस्तु को प्राप्त कर लेता है। उस समय वह उस वस्तु के भक्षण का पूरा सुख नहीं पा सकता। उस समय वांछित वस्तु प्राप्त करने का सन्तोष, भक्षण सुख का स्थानापन्न सुख बन जाता है।

क्षुधानुभूति की इस विस्तृत चर्चा से आशय मात्र यह प्रकट करना है कि जीव को संस्कार रूप म सभी आवेग सामान्य मिले हैं। वर्जना अथवा वचना के कारण सामान्य आवेग असामान्य बनता है। क्षुधा आदि आवेगों की शांति के लिए सामाजिक-वर्जनाएं अपेक्षाकृत कम हैं इसलिए वह आवेग हमे सामान्य सा लगता है। यौनावेग पर वर्जनाएँ अपेक्षाकृत अधिक हैं इसलिए वह आवेग प्रबल लगता है। जिन परिस्थितियों के कारण यौनावेग प्रबल बनता है, यदि उन जैसी परिस्थितियों म से क्षुधानुभूति को भी गुजरना पडे तो वह अनुभूति भी सामान्य से असामान्य बन सकती है।

हर समाज हर व्यक्ति की यौन प्रवृत्ति पर कुछ निषेध अवश्य लगाता है। कई बार किसी अतुल साधन पति को मनपसंद यौन सुख प्राप्त करत

देखकर यह भ्रम उपजने लगता है कि उसके लिए कोई निषेध, कोई वर्जना नहीं है लेकिन सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर वह भ्रम मिट जाता है। यदि उसके लिए वर्जनाएँ अपेक्षाकृत कम होती हैं तो उसकी तृष्णा अपेक्षाकृत अधिक होती है। वर्जना के मुकाबिले में तृष्णा अधिक होने के कारण उस उच्छृंखल यौनाचारी को वंचना सुख का अहम्मान, लगभग उतना ही रहता है जितना एक साधनहीन को अधिक वर्जनाओं के कारण होता रहता है।

मानव से निम्नतर समझे जाने वाले जीवों में भी यौन आवेग होता है, किन्तु वह उतना तीव्र नहीं होता जितना तीव्र मानव में होता है। पशु नियत ऋतुकाल में ही गर्भित हैं। अन्य ऋतुओं में वे शान्त और सन्तुष्ट ही देखे जाते हैं। काम-तृप्ति उनके शरीर की एक सामान्य-सी आवश्यकता है, लेकिन मानव ने उस आवश्यकता को चस्का बना लिया है। दर्जियों व सौन्दर्य प्रसाधनों के उत्पादकों ने, मानव की द्रव्य गुण सम्बन्धी अभूतपूर्व जानकारी ने उस आवश्यकता को ऋतु विशेष तक के लिए सीमित नहीं रहने दिया बल्कि उसे स्वेच्छामूलक बना दिया है। मानव जब चाहे उत्तेजक पदार्थ खा-पीकर उत्तेजक वातावरण रचाकर, अपने आप को मन्मथ से पीड़ित कर सकता है। यह सुविधा मानव से निम्नतर जीवों को प्राप्त नहीं है। इसलिए अन्य जीवों की अपेक्षा मानव में यह आवेग ज्यादा बढ़ा चढ़ा दिखाई देता है।

मानव की काम विषयक इस पारगतता को देखते हुए समाज को यह खतरा शुरू से ही महसूस होता रहा है कि कहीं यह तीव्र आवेग अन्य प्रवृत्तियों को दबा न दे। इस खतरे से बचने के लिए समाज यौन सम्बन्धी निषेध नियमों को कठोर बनाता है। परिणाम वांछित से उल्टा निकलता है। निषेध जितने अधिक कठोर बनते हैं यौनानुभूति उतनी अधिक तीव्र हो जाती है।

●

यौन-प्रवृत्ति पर ही अधिक प्रतिबंध क्यों ?

यह कहना कठिन है कि यौनावेग की प्रबलता देख कर समाज ने यौन प्रवृत्ति पर कड़े निषेध लागू किए या इन निषेधों के कारण इस प्रवृत्ति को प्रबल बनने का अवसर मिला। पहले अण्डा या पहले मुर्गी जैसे इस विवाद में न पड़ कर यह मान लेना सुविधाजनक है कि पहल चाहे किसी की भी रही हो, यह प्रवृत्ति इस समय प्रबल है। अब देखना यह है कि इस प्रवृत्ति को पुनः सामान्य-स्तर पर लाने के लिए कामावेग पर से वर्जनाएं कम करने का जो आन्दोलन चला है वह कहां तक ठीक है।

इतना तो स्पष्ट है ही कि अन्य आवेगों की अपेक्षा यौनावेग के प्रति समाज का रुख अधिक कड़ा रहा है। उस कड़ाई का जो कारण समझ में आता है, वह यह है कि समाज अपने नियम वहां लागू करता है जहां समाज के एक सदस्य के किसी कृत्य का प्रभाव दूसरे सदस्य पर पड़ता हो।

एक व्यक्ति भोजन कम करता है या अधिक, यह उसके अपने पाचन संस्थान का मामला है। वह गेहूं चावल तीतर बटेर शेर हिरन इत्यादि में से जो चाहे खा सकता है बशर्ते कि उसने ये आहार अवैध उपाय से प्राप्त न किए हों लेकिन कोई व्यक्ति यदि आदमी का गोश्त खाना चाहेगा तो

समाज उसका विरोध करेगा। वह इसलिए कि उसने अपनी रसना के सुख के लिए अपने समाज के एक सदस्य का हनन करना चाहा।

शौच निवारण क्रिया हर व्यक्ति का निजी मामला है। कोई दिन में कितनी बार मल विसर्जन करता है, समाज का इस बात से कोई मतलब नहीं रहता। यदि वह क्रिया किसी ऐसे सार्वजनिक-स्थान पर होती है जिससे उसका दुष्प्रभाव दूसरों पर पड सकता है, तो समाज इस कृत्य पर आपत्ति करता है।

किसी भी ऐसे आवेग या प्रवृत्ति पर समाज तब तक कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता, जब तक एक का कुफल दूसरे को नहीं भोगना पडता।

यौन प्रवृत्ति एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसकी तुष्टि के लिए समाज के एक सदस्य को दूसरे की आवश्यकता होती है। जहाँ एक को दूसरे की आवश्यकता होती है, वहा एक लघु-समाज की नींव पड जाती है। उस लघु समाज के दोनो सदस्यो के हानि-लाभ का विचार करना वृहत् समाज का कर्तव्य हो जाता है।

यदि दो यौन भोगियो म से भोक्ता धर्षकामी (सडिस्ट) है और उसका भोग्य सामान्य यौनावेग वाला है तो भोक्ता को सुख देने के लिए भोग्य को कष्ट की स्थिति से गुजरना पडता है। समाज ऐसे समय में दलित का पक्ष लेता है। उसे कष्ट से बचाने के लिए वह कोई-न कोई नियम बनाता है।

यौन-क्षमता की दृष्टि से यदि एक इकाई परिपक्व है और दूसरी अपरिपक्व है। पहला दूसरे से बलात समागम करता है तो उस किस्म की पुनरावृत्तियो को रोकने के लिए समाज दूसरा नियम बनाता है। यदि दोनो इकाइयां यौन दृष्टि से परिपक्व हैं किन्तु समाज का गठन इस प्रकार का है कि एक का (पुरुष का) दूसरे से (अगम्य स्त्री से) बलात समागम करना दूसरे के सामाजिक अधिकारो से वंचित कर देता है तो ऐसे बलात्-कर्म को रोकने के लिए, बलात्कारी को सजा देने के लिए समाज तीसरा नियम बनाता है।

कई अवसरो पर समाज दोनो यौन-सहयोगियों की सुखद स्थिति में भी बाधा डालता है। प्रकटत उन दोनो म से किसी का शोषण होता नहीं दिखता, लेकिन समाज का वह कृत्य पसन्द नहीं होता। मसलन दो सम लिंगी मैथुनाभ्यस्त एक-दूसर के पूरक बनते हैं या कोई पशु-गमन करता है अथवा कोई हस्त मैथुन को अपने सुख का साधन समझता है, वे सब प्रकटत

समाज के किसी सदस्य का अपकार नही करते, फिर भी उन्ह समाज की ताडना का भागी बनना पडता है।

उपर्युक्त प्रकार के यौन सुख प्राप्ति के साधन उस समाज म गर्हित समझे जाते हैं जिस समाज म विपम लिंगी इकाई से समागम करने की परिपाटी प्रचलित होती है। उस समाज का कोई सदस्य यदि समलिंग गामी है पशु गामी है या आत्मतोषी है तो वह अपने हिस्से म आने वाली दूसरी विपरीत लिंगी इकाई को परोक्ष रूप से यौन सुख से वचित कर रहा है। जो वचित हो रहा है वह शोषित है। शोषित का पक्ष लेकर शोषक को रोकना समाज का कत्तव्य है।

हर युग, हर देश या हर जाति के समाज की अपनी आवश्यकताएँ होती हैं। समाज की पुरानी आवश्यकताएँ समाप्त होती रहती हैं, नयी जन्म लेती रहती हैं। सामाजिक आवश्यकता के अनुसार पुराने विधि निषेध हटा कर नये लागू किये जाते हैं, लेकिन नियम या निषेध पूणत खत्म नही किये जाते।

©

वर्जन-हीन समाज की परिकल्पना

यौनावेग पर लगाए गए प्रतिबन्धों पर आज के मानव की आस्था समाप्त हो चली है। उस अनास्था का कारण मानस शास्त्रियों के कुछ फतवे हैं जिनका सार यह है—'अधिकतर मनोविकारों का कारण यौन सम्बन्धी कुण्ठाएँ हैं। कुण्ठाओं का कारण यौन प्रवृत्ति पर लगाए गए प्रतिबन्ध हैं।'

इसमें संशय नहीं कि यौनावेग पर लगे हुए प्रतिबन्धों ने इस प्रवृत्ति को असामान्य बनाया है लेकिन वे प्रतिबन्ध हटा लेने से यह प्रवृत्ति सामान्य बन जाएगी—इसमें संशय है।

शैशव से ही मानव को निषेध पूर्ण वातावरण में रहना पड़ता है। 'यह मत करो, वह मत खाओ इसे मत छुओ और उसके निकट मत जाओ'—जैसे वाक्य वह शैशव से सुनने लगता है और जीवन पर्यन्त सुनता चला जाता है। वर्जनाओं से भरे वातावरण में वह अपनी पसन्द का कुछ कर नहीं सकता और वह निष्क्रिय रह नहीं सकता। उसे नज़र बचा कर निषेधाज्ञाओं का उल्लंघन करना पड़ता है। फल यह होता है कि शैशव से तरुणावस्था को पहुँचने तक वह निषेधों के विरोध का उतना अभ्यस्त हो जाता

है जितना पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के विरोध करने का वह होता है। काफी अर्से तक निषेधाज्ञाओं का उल्लंघन करते रहने से उल्लंघन करने या वर्जना का विरोध करने का व्यक्ति अभ्यस्त बन जाता है। ऐसे अभ्यस्त मानवों से भरे समाज में यदि कोई निषेध, कोई वर्जना न रहे तो क्या हो? पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के एकाएक समाप्त हो जाने से जिस आधार हीन सृष्टि की कल्पना की जा सकती है, वसी ही आधारहीनता की स्थिति वर्तमान समाज से निषेध निकाल देने से आ जाने की सम्भावना है। यदि वर्जनहीन समाज के अस्तित्व में आने की कल्पना साकार हो जाए तो उस समाज के मानव के सामने यह समस्या आ खड़ी होगी कि वह अपनी विरोध करने की आदत का क्या करे? यह समस्या उसे नया निषिद्ध वाता वरण बनाने के लिए प्रेरित करेगी ताकि उसकी वर्जना का विरोध करने की आदत काम आती रहे।

मानव चाहता बेशक है कि उसके लिए कुछ वर्जित न रहे। यौन सम्बन्धी सामाजिक नियम, उपनियम हट जाएं। जहाँ जब और जिससे उसका जी चाहे, वह यौनानन्द प्राप्त कर सके लेकिन वह यह भूलता है कि नियम बंधन हैं इसलिए अनियमित होने के सपने में आकर्षण हैं। यदि नियम न रहे तो आकर्षण भी न रहेगा। सतोष इस बात का है कि वह आकर्षण-हीन स्थिति कभी आ नहीं सकती। वह इसलिए कि नियम समाप्त हो नहीं सकते। आगामी-कल के नियम आज के नियमों की अपेक्षा सरल बनाए जा सकते हैं, खत्म नहीं किए जा सकते।

इस युग में यौन-सम्बन्धी जिन नियमों के सकुचित घेरे में हम रह रहे हैं हो सकता है कि उस घेरे को हम तोड़ लें, लेकिन उस घेरे को तोड़ते ही हमें ज्ञात होगा कि छोटे वृत्त से बाहर उससे बड़ा वृत्त मौजूद है जहाँ से आगे जाने की अनुमति नहीं है। उस छोटे वृत्त को तोड़ कर यदि हम बड़े वृत्त में पहुँच जाएं तो भी हम सतुष्ट न रह सकेंगे क्योंकि वहाँ पहुँचने के बाद हमें ज्ञात होगा कि उससे बड़ा एक और वृत्त हमें अब तक घेरे में लिए हुए है। उस घेरे को तोड़ने से प्राप्त होने वाले काल्पनिक सुख की तलाश में बड़े-से और बड़े घेरे को तोड़ते हुए हम कहाँ तक पहुँच सकते हैं यह चिन्तनीय विषय है।

मान लीजिए कि एक समाज में सार्वजनिक स्थान पर विपरीत लिंगी इकाई को छूना निषिद्ध है तो उस समाज की दो विपरीत लिंगी इकाइयों का मात्र एक-दूसरे को छू लेना उनमें मादकता भर देगा। यदि उस सार्व

जनिक स्थान पर प्राप्त किए जाने वाले स्पर्श-सुख पर समाज को आपत्ति न रहे लेकिन खुले आम चूमने पर आपत्ति हो तो चूमना स्पर्श-सुख का स्थानान्तरित सुख बन जाएगा। यदि सार्वजनिक-स्थल पर चूमाचाटी कर लेने की क्रिया को सामाजिक मान्यता प्राप्त हो जाए तो चुम्बन रसहीन हो जाएगा और खुले आम मैथुन मनाने के आनन्द की कल्पना सुखान्वेषी के मानस पटल पर छा जाएगी। यदि इस प्रकार के मैथुन पर भी समाज आपत्ति करना बन्द कर दे तो यह क्रिया भी अपना आकर्षण खो बैठेगी। आनन्द का खोजी मानव को यौन सुख प्राप्त करने के लिए उसके आगे के किसी पड़ाव पर पहुंचना होगा। कोई ऐसा पड़ाव जहां तक जाना निषिद्ध हो। निषेध के ये घेरे यदि टूटते रहे तो एक समय ऐसा आयेगा जब आज के 'विकृत कामी' समझे जाने वाले लोगों का सा आचरण करने वाले लोग सामान्य समझ लिए जाएँगे और *'विकृतकामी'* शब्द को सार्थक करने के लिए हमारी अगली पीढ़ियों को कोई नया क्रूर-रूप अपनाना होगा।

●

वर्जन-हीन-समाज का आदर्श

आज के अधिकतर मानस शास्त्री तथा उनके प्रभाव में आये कई आचार्यगण यौन-सम्बन्धी समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए पशुओं के उन्मुक्त-यौन जीवन का अनुकरण करने की सलाह देते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि पशुओं का यौनावेग मानव के यौनावेग की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक अवस्था में है। पशु जहाँ चाहते हैं यौन समागम कर लेते हैं। उनमें नर और मादा एक दूसरे को अनावृत्त देखते रहते हैं, लेकिन वह नंगापन उनमें उत्तेजना नहीं लाता।

प्रागैतिहासिक काल के चिह्न-स्वरूप कुछ कबीले भी हमारी इस छोटी-सी दुनिया के किसी-न किसी कोने में अब तक अवशिष्ट हैं। उन आदिवासियों की दिनचर्या बहुत कुछ पशु जीवन से मिलती-जुलती है। जो लोग साहसिक-यात्राओं के दौरान उनके जीवन को निकट से देख आए हैं उनका कहना है कि वे लोग यौन सम्बन्धों और यौनांगों के बारे में गोपनीयता नहीं बरतते। न तो उनके जीवन में हमारे समाज में प्रचलित नियमों जैसे यौन सम्बन्धी निषेध हैं और ना ही उनके सामने आधुनिक समाज की सी यौन समस्याएं हैं।

अब सवाल यह है कि आधुनिक समाज यदि अपनी यौन समस्याओं से छुटकारा पाना चाहे तो क्या उसे पशुओं के या आदिवासी जातियों के यौन जीवन का अनुकरण करना चाहिए ?

इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक समाज में यौन-समस्याएँ हैं और इस बात को भी हम स्वीकार कर आए हैं कि उन समस्याओं का कारण यौनावेग पर लगाए गए बंधन हैं। लेकिन इसका आशय यह नहीं कि हम पूरी स्थिति पर विचार किये बिना किसी एक निर्णय पर पहुँचने की जल्दबाजी करें।

प्रत्येक जीव का यौन जीवन उसके समग्र-जीवन का एक भाग होता है। किसी भी जीव समुदाय के समग्र जीवन का पर्यवेक्षण किए बिना, मात्र उसके यौन जीवन को आदर्श मान कर अपना यौन-जीवन उसके जैसा ढालना मुनासिब नहीं लगता।

जिन पशुओं को नंगा देखकर हम अपना लिबास तार-तार करने की सोच रहे हैं, हमें चाहिए कि उन पशुओं की मजबूरी को समझें। उनकी मैथुन स्वच्छंदता देखकर हम अपनी मैथुन-गोपनीयता को तिलांजली देने से पहले उनके समग्र जीवन पर विचार करें।

पशुओं के समग्र जीवन पर विचार करने से पहले हम मानव के समग्र जीवन पर भी नजर डालनी चाहिए। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मानव प्रकृति का विजेता है इसलिए उसका यौन-जीवन यदि प्रकृति पर निर्भर नहीं रहा तो कुछ अजब बात नहीं है। अपनी सुविधा के अनुसार खुद को जब जी चाहे गर्मा लेने की विधि मानव ने जान ली है। उसके मुकाबिले में पशु का जीवन बहुत कुछ प्रकृति पर निर्भर है इसलिए उसके उत्तेजित होने में ऋतुओं का महत्व है। पशुओं का मानव जैसा समाज नहीं है इसलिए उनके यौन जीवन पर सामाजिक बन्धन होने का सवाल ही नहीं उठता। फिर भी उनका यौन-जीवन निर्बन्ध नहीं है। हम देखते हैं कि एक ताक्तवर कुत्ता कमजोर कुत्ते को खदेड़ कर मन पसन्द कुतिया को भोगता है। यह देखकर खदेड़े गये कुत्ते के यौन-जीवन को हम निर्बन्ध नहीं कह सकते।

कुत्ता चूंकि मानव समाज में काफी घुलमिल चुका है इसलिए उसका उदाहरण सरलता से दिया और समझा जा सकता है, लेकिन अन्य जो जीव मानव से दूर हैं, उनमें भी बलवान से निर्बल के डरते रहने का विधान है, जो उनकी स्वच्छन्दता में बाधा बनता है।

शक्तिशाली और शक्तिहीन के अधिकारों का अन्तर मानव समाज में भी है। यह और बात है कि मानव-समाज में शक्ति का अर्थ केवल शारीरिक-बल नहीं है। यह शक्ति धन, पद, वय, कुल आदि कई रूपों में हो सकती है। जिस युग में जिस रूप की शक्ति समाज में सर्वोपरि समझी जाती है उस युग में उस शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति को मन-पसन्द यौन-जीवन बिताने की अपेक्षाकृत अधिक सुविधा होती है।

किस युग में किस प्रकार की शक्ति का महत्त्व अधिक माना जाता है, यह मानव समाज का अन्तरंग विषय है। इस समय चर्चा यह चल रही है कि पशु के समग्र जीवन को समझे बिना उसके यौन-जीवन को अपना आदर्श मानना मानव के लिए उचित है या नहीं।

पशु धूप में छाता नहीं तानता, बरसात में बरसाती-कोट नहीं पहनता और शौच के समय कागज का रास्ता नहीं पूछते, वे यदि योनावेग के समय मैथुन स्थल तलाश किए बिना यौन-कर्म में संलग्न हो जाते हैं तो इसमें आश्चर्य क्या? पशु, जिन्हें मौसम को अनुकूल बनाने की विधि ज्ञात नहीं, जिनमें द्रव्यों से जीवन-तत्त्व (विटामिन) खोजने की क्षमता नहीं परिश्रम से जी चुराने में मदद देने वाले आविष्कार जिनके जीवन में नहीं आए, उन सरल-बुद्धि पशुओं के यौन जीवन का अनुकरण करने की बात जटिल बुद्धि मानव सोचता क्यों है? वह मानव, जो पौष्टिक आहार खाकर जब चाहे शक्ति का संचय कर सकता है, मादक वातावरण रच कर जब चाहे उस शक्ति को निकाल सकता है, उस समय मानव को समाज वह यौन-स्वच्छन्दता दे कैसे सकता है, जो असमय पशुओं को प्राप्त है!

माना कि आदि जातियों में यौन-स्वच्छन्दता आधुनिक-समाज की अपेक्षा अधिक है लेकिन उनके शारीरिक परिश्रम भरे जीवन का और इनके शारीरिक सुख-सुविधापूर्ण जीवन का मुकाबिला क्या? उन जातियों के मानव को यदि शिकार करना होता है तो उसे बन्दूक और जीप गाडी मयस्सर नहीं होती बल्कि तीर कमान और अपनी टांगों के बल पर उसे अपना अभीष्ट प्राप्त करना पड़ता है। यदि उसे खेती करनी हो तो उसे ट्रैक्टर नहीं मिलते अपनी शारीरिक शक्ति खपाकर उसे धरती फोडनी पडती है। शारीरिक गर्मी को वातावरण में घुलने से बचाने के लिए उसके पास वे आविष्कार नहीं जिनके बल पर वह सर्दियों में गर्मियों का सा और गर्मियों मे शीत ऋतु का सा वातावरण रच सके। उसके जीवन में न खजुराहो के खण्डहर हैं, न वेनिस की मूर्तियाँ न उत्तेजक फिल्में है न

शृंगार-साहित्य। सभ्य कहे जाने वाले समाज का अपेक्षाकृत-समर्थ मानव, यदि उस अपेक्षाकृत असमर्थ आदि-मानव के यौन-जीवन का अनुकरण करना चाहता है तो यह इसकी अनाधिकार चेष्टा है। यदि यह उन जैसा यौन जीवन बिताने की आशा पाना चाहता है तो इसे उनका-सा समग्र-जीवन अपनाना होगा। इसे अपनी शक्ति को दैनिक चर्या में इतनी अधिक खपा देनी होगी कि वह निकास के लिए उत्तेजना पाने की किसी नयी विधा को न खोज सके।

उनके समग्र जीवन की नकल करने के लिए आधुनिक मानव को प्रकृति पर की हुई सारी विजय भुला कर, आदि मानव की तरह प्रकृति पर निर्भर हो जाना पड़ेगा। वातानुकूलित अट्टालिकाएँ छोड़कर पर्वतों की कन्दराओं में या वृक्षों की सघन छाया में अपना ठिकाना बनाना होगा। ट्रैक्टर छोड़कर हल उठाने होंगे। गुदगुदे बिस्तर छोड़कर पत्थरों के तकिया और पत्तों को अपना बिस्तर बनाना होगा। दियासलाई की बजाय पत्थर रगड़कर आग पैदा करनी होगी। अपना सारा साहित्य जला देना होगा। चक्र-व्याज की तरह बढ़ते हुए अपने ज्ञान को मस्तिष्क के कोषों में से निकाल कर उस अबोधावस्था तक पहुँचाना होगा, जिस अबोधावस्था में आदि अवस्था वाला मानव है। वह अबोधावस्था प्राप्त करने के बाद मानव जटिल नहीं रहेगा। उस सरल प्रकृति मानव पर से यौन सम्बन्धी नियम ढीले किये जा सकते हैं। किये जा सकने की बात ही क्यों कही जाए, उस अबोधावस्था वाले मानव के लिए अब भी यौन-सम्बन्धी निषेध नहीं है। शिशु की आवरणविहीनता पर किसी भी समाज ने कभी आपत्ति नहीं की।

आज जो व्यक्ति या वर्ग यौनावेगों पर से अंकुश हटाने या शरीर को अनावृत करने की बात करता है वह शिशु पशु या आदि-मानव सा अबोध नहीं है। फिर भी वह अपने पक्ष को सबल बनाने के लिए आदि-मानव का या पशु जीवन का आदर्श प्रस्तुत कर रहा है। ऐसा करके वह मन की बात जबान पर नहीं ला रहा। वास्तव में वह वर्तमान बोधावस्था में रहते हुए मनोरंजन के लिए अस्थायी तौर पर अबोधावस्था के मानव सरीखा यौन आचरण करना चाहता है। वजन हीन जीवन बिताने का पक्षपाती व्यक्ति वास्तव में वही है जो निरन्तर यौनाभ्यास कर करके अपनी उत्तेजनशीलता का ह्रास कर चुका है। उत्तेजित होने के लिए अब उसे पहले से अधिक तीव्र प्रेरकों की आवश्यकता है।
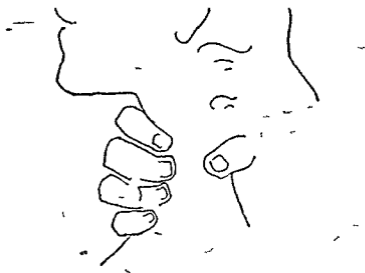
उत्तेजन-क्षमता के स्तर

वेदना सवेदन

'ग्राज टेम्ज नदी म एक नग्न युवती की लाग पायी गयी। युवती के चार दाँत टूटे हुए थे और उसके शरीर पर जगह-जगह घाव के निगान थे। पुलिम का विचार है कि

यह समाचार कौन से अखबार के किस पृष्ठ पर छपा था, यह बताने की ग्रावश्यक्ता नही है। उन्नत समझे जाने वाले देश के किसी समाचार पत्र के किसी भी पृष्ठ पर इससे मिलती-जुलती खबर देखी जा सकती है। उस और इस खबर म ग्रन्तर यह हो सकता है कि दूसरी लाग किसी नदी म पायी जाने के बजाय किसी सुनसान सडक के किनारे पर या कूडे के किसी ड्रम म से मिली हो। यह भी हो सकता है कि दूसरी लाग के दात तो सही सलामत हो मगर उसके कुच काट डाले गय हो या उसके यौनागो को किसी तज धार के गस्त्र से चीडा फाडा गया हो।

कल के समाचार पत्र म इससे मिलती-जुलती जितनी खबरें थीं ग्राज के में उससे ग्रधिक हैं और जमाने की रफ्तार देखते हुए ग्रनुमान लगाया जा सकता है कि भविष्य म इससे भी ग्रधिक लोम हषक खबरें पढ़ने सुनने को मिलेंगी।

यह सब क्या हो रहा है ? क्या हो रहा है ? इन दोनो प्रश्नो का उत्तर एक है कि जिस समाज में यौन सम्पर्कों पर निषेध पहले की अपेक्षा कम कर दिये गये हैं वहाँ के मानव को उत्तेजित होने के लिए अब पहले से अधिक तीव्र प्रेरणाओं की आवश्यकता पड़ गयी है।

जिन दिनों नर और नारी के पारस्परिक स्पर्श पर कड़े सामाजिक निषेध होते थे उन दिनों स्पर्श सुख प्राप्ति का परम उपाय मैथुन समझा जाता था। आज के अपेक्षाकृत निषेध हीन समाज में मैथुन स्पर्श सुख पाने का परम उपाय नहीं रहा, बल्कि यह सामान्य-सी सुखद क्रिया बन कर रह गयी है। उस सामान्य को असामान्य बनाने के लिए मानव को उससे आगे बढ़ना पड़ा है। स्पर्श को अति प्रगाढ़ बनाने की दिशा में प्रयत्न करते हुए उसे स्पर्शानुभूति को उस सीमा तक पहुँचाना पड़ा है जिसे सामान्य व्यक्ति 'वेदनानुभूति' कहता है।

यों तो मैथुन स्वयं एक वेदना मयी क्रिया है। सामान्य-वयस्क व्यक्ति को चूंकि इस क्रिया में मजा भी आता है इसलिए वह इसे वेदना दायक क्रिया न समझ कर सुखद क्रिया समझता है। जिन्हें इस क्रिया में मजा नहीं आता—उदाहरणार्थ ठंडी स्त्रियाँ या कच्ची उम्र की किशोरियाँ उनके लिए मैथुन वेदनादायक क्रिया है। मैथुन तो दूर की बात, उन्हें प्राक् क्रीडाओं तक में कष्ट की अनुभूति होती है।

सामान्य वयस्क व्यक्ति के लिए मैथुन चूंकि सुखद क्रिया है। इसलिए मैथुन क्रिया को वेदना संवेदन के अंतर्गत नहीं समझा जाता। सामान्य व्यक्ति मैथुन काल में तीव्र स्पर्शानुभूति सुख पाने के लिए जो काम नख दन्त और शिश्न से लेता है वेदनावादी (सडिस्ट) वही काम तेज धार के शस्त्रों तथा कोड़ा से लेने का प्रयत्न करता है।

'वेदना संवेदन' अभी समाज द्वारा मान्य नहीं हुआ। इसलिए इस संवेदना में सुख की अनुभूति पाने वाले व्यक्ति मानसिक रोगी समझे जाते हैं। इन रोगी व्यक्तियों में पुरुष भी होते हैं स्त्रियाँ भी, लेकिन इस संवेदना का प्रथम प्रेरक पुरुष है। मैथुन के समय नारी के लिए वेदनादायक बनना, पुरुष अपना विशेष गुण मानता चला आ रहा है। जो पुरुष शारीरिक मिलन के समय अपनी यौन-सहयोगिनी से सीत्कार नहीं करा पाता वह अपना पौरुष निष्फल समझता है। उससे सहवास का बराबर संग निभाने वाली नारी भी वेदना-सहिष्णुता की इतनी आदी हो गयी है कि वह कष्ट पाने की एक विशेष मंजिल तक पहुँचे बिना अपना सुख अधूरा समझती है।

गोया पुरुष शुरू से ही वेदनादायक बनने के प्रयत्न म रहा है और नारी वेदना सहिष्णु (मैसाग्निस्ट) बनने की ओर अग्रसर रही है। अपवाद स्वरूप समाज म कुछ पुरुष वदना-सहिष्णु भी होते हैं और नारिया वेदना-दायक भी। इस प्रकार के विपरीत गुणा से युक्त पुरुष कोडे खाकर और नारिया पुरुषो को तडपा कर अपनी इस सवदना का दामन करती हैं।

'अत्यन्त यौन-सुख' रूपी अन्तहीन मंजिल की ओर बढता हुआ मानव मैथुन रूपी पडाव स आगे बढकर वदना-सवेदन रूपी इस पडाव तक आ पहुँचा है। इस पडाव तक पहुँचने के लिए उसे किन किन अवस्थाओ म से गुजरना पडता है उसका चित्रण करना आवश्यक है।

मैथुन काल म नारी के मुख से 'सीत्कार सुनना पुरुष का शुरू से ही प्रिय रहा है। जहा सामान्य पुरुष मात्र सीत्कार को अपने पुरुषत्व का प्रमाण मान कर सन्तुष्ट हो जाते थे वहा असामान्य व्यक्तित्व अपन घोर पुरुषत्व के प्रमाण के लिए 'सीत्कार को चीत्कार' का रूप देना जरूरी समझते थे। व व्यक्ति वही थे जो अधिक कामाभ्यास करत रहने के कारण अपनी उत्तेजनशीलता खो चुके थे। ऐसे व्यक्तियो का आहार अत्यन्त शक्ति-दायक होता था और उनके शारीरिक परिश्रम के काम उनके अधीनस्थो के सुपुर्द होते थे। आहार द्वारा प्रदत्त ढेरसी अतिरिक्त शक्ति को तीव्रगति से क्षरित करना उनके शरीर का धर्म था। वह अपार अतिरिक्त शक्ति साधा-रण मैथुन के माग से न निचुड सकती थी ? फलत उन्हें मयुन का अधिक सघर्षमय बनाने के लिए कोई उपाय ढूढना पडता था। 'बलात्कार' एक ऐसा उपाय था जो उनकी इस शारीरिक आवश्यकता को पूरा कर सकता था।

बलात्कारी के प्रति समाज का रुख शुरू स ही कडा रहा है। इसके क्रियान्वयन के समय कर्ता को सामाजिक भय की आशका बराबर बनी रहती है। इससे यौनोत्तेजना के साथ साथ 'भय नामक उत्तेजना के माग द्वारा भी शक्ति विसर्जित होने लगती है। कर्ता का अपने शिकार' के प्रति-रोध का सामना करके उससे यौन-सुख छीनना होना है। छीना झपटी की क्रिया के रूप म भी शक्ति व्यय होन का एक और माग खुल जाता है। इस प्रकार कई उत्तेजनाओ रूपी मार्गों द्वारा शक्ति व्यय करने का, यानी सयुक्त-उत्तेजनाओ से प्राप्त होन वाले सुख का एक बार चस्का पड जान पर कर्ता को साधारण मथुन म आनन्द नही आता।

जिन दिनो सङ्गिम आम प्रचलित नही था उन दिनो 'बलात्कार'

वेदना सवेदन का एक हल्का-सा रूप था। हल्का सा इसलिए कि इस क्रिया मे नारी को कष्ट पहुँचाने के लिए किसी शस्त्र का सहारा नहा लिया जाता था, बल्कि यौनाग तथा नख-दत द्वारा जितना कष्ट दिया जा सकता था, देकर कर्ता सतुष्ट हो जाया करता था।

बलात्कारी को जितने गहरे सामाजिक रोष का सामना करना पडता था, वह सामना करना हरक के बस की बात न थी। अत यह रास्ता या तो पक्के अपराधी अपनाते या राजा नवाब अथवा तानाशाह किस्म के अधिकारी जन। जो लोग उपयुक्त श्रेणियो म न आते थ, मगर साधन-सम्पन होते थे वे बलातकारी बनने की कामना तो करते थे लेकिन सामाजिक नियमो का खुला अतिक्रमण करने म वे असमथ होते थे। वे बलात सम्भोग के लिए सुरक्षित वातावरण की जरूरत महसूस करते थे।

आवश्यकता और आविष्कार का कारण काय सम्बन्ध होता है अत अथवादी समाज म 'वेदना सवेदन के क्षेत्र म एक नया शब्द जुडा—'नथ उतारना'। वेश्यावृत्ति के सचालक लोग अपने साधन सम्पन्न ग्राहको के बलात्कार के शौक को सुरक्षित वातावरण मे पूरा करने के लिए, उन तक अव्यवहृत ललनाएँ पहुँचाते ताकि उनकी सतीत्व की झिल्ली अपने यौनाग से फोड कर, उससे निकले रक्त को देख कर उस काल के वे वेदनावादी अपने आपको नारियो के लिए कष्टकर समझ कर श्रेष्ठत्व की भावना से विभोर हो जाएँ। इस प्रकार के सुरक्षित-वातावरण म किए जाने वाले बलात्कार का प्रचलन आज भी बहुत से देशो म है। इस सुरक्षित बलात्कार के व्यवसाय म प्रचलित नियम के अनुसार नथ उतरी (पूव प्रयुक्त) और बिना नथ उतरी (अप्रयुक्त) वेश्या के दाम म जमीन आस्मान का फक होता है। उस फक का कारण यह है कि व्यवहृत ललना अपने आपको मैथुन स बचाने की चेष्टा नही करती। इसलिए उससे सहज ही मे प्राप्त होने वाले यौन सुख से वेदनादाता कर्ता की तसल्ली नहीं होती। कर्ता तो अधिक धन इस बात पर खचने के लिए तयार होता है कि उसे जोर जबरदस्ती के बाद अत्यन्त कठिनता से यौन सुख मिलेगा। वसा सुख केवल उसी ललना से मिल सकता है जिसने कर्ता का सामना करने से पूव मथुन का अनुभव न किया हो। ऐसी लडकी कर्ता से भयभीत होकर अपने आप को बचाने की चेष्टा करती है। उसके प्रतिरोध को अपनी अतिरिक्त शक्ति से विफल करके कर्ता को जो सुख बडी कठिनता से प्राप्त होता है वह सुख पाने के लिए वह अव्यवहृत-ललना के लिए अधिक धन देने को तत्पर रहता है।

इस प्रकार के असामान्य-यौन सुख प्राप्त करने के इच्छुका को इस प्रकरण मे हम यौन अजीण का रोगी कहगे। यहा 'अजीण' शब्द का प्रयोग, एक विशेष भाव प्रकट करने के लिए किया गया है। जिस प्रकार अजीण का रोगी सयुक्त-रसपूण पदार्थों का निरन्तर सेवन कर-करके अपनी रसना के स्वाद-केन्द्रा को मतप्राय बना लेता है। उन्हें पुनर्जीवित करने के लिए वह उत्तेजक मसालो का सहारा लेकर भोजन निगलता है। यौनाभ्यास की निरन्तर पुनरावत्ति से हलकान हुआ व्यक्ति, अपने मृतप्राय काम भाव को पुनर्जीवित करने के लिए मैथुन को मसालेदार बनाने की चेष्टा करता है। वह यौनात्तेजना के साथ भय, क्रोध आदि कई उत्तेजनाएँ मिश्रित कर लेता है। तब कही उसे आनन्द की अनुभूति होती है।

पुराने युग मे जो यौन अजीण कुछ साधन-सम्पन्ना और असामान्यजनों को हुआ करता था, यौनावेग पर से सामाजिक निषेध कम होने के कारण वह अजीण अब सावजनिक बन गया है।

केवल यौनावेग के क्षेत्र मे यह स्थिति नही आयी। अन्य आवेगा से सम्बन्धित उत्तेजनाओ से विभार होने के लिए भी वजनहीन समाज के मानव का पहले स अधिक तीव्र प्रेरकों की आवश्यकता पड गयी है। मिसाल के तौर पर मुक्केबाजी के खेल, क्रुद्ध-साडा के द्वन्द्व प्रदशन, फ्रीस्टाईल कुश्तिया और बफ पर फिसलने या तज गति से कार चलाने की प्रतियो गिताएँ इन सब जोखिम भरे अभियाना में मानव का रस लेना यह प्रकट करता है कि उत्तेजन शीलता का सामान्य धरातल बदल चुका है। आज उन्नत समझे जाने वाले देशा म, घर म सजावट के लिए पाली जानेवाली रग बिरगी मछलिया का स्थान सापा बिच्छुआ और मगरमच्छो ने ले लिया है। कुत्ता का छाडकर आज का मानव भेडिया की दोस्ती मोल लेने के लिए आतुर हा उठा है। और तो और आज स्टज पर खडा विदूषक अपने दशका को हँसाने मे तब तक सफल नही होता जब तक वह अपने सिर पर तबला न बजवा पाए।

साधारण खेल-तमाशा म रस लेने के लिए यदि औसत-व्यक्ति का इतने तीव्र प्रेरका का सहारा लेना पडता है तो स्पष्ट है कि उच्च स्तरीय उत्तेजना—यौनोत्तेजना का रस लेने के लिए उसे उससे कहीं आगे जाना पडेगा।

सतोष की बात है कि उत्तेजन क्षमता का धरातल ससार के सभी भागों म एक-सा नही है। जिन देशा म सामाजिक निषेध अपेक्षाकृत अधिक

हैं वहाँ अपेक्षाकृत हीनता अधिक है। उन देशों में वेश्याएँ हैं लेकिन उनका प्रयोग मैथुन के लिए किया जाता है किन्तु जिन देशों में यौनावेग पर न प्रतिबन्ध घटे हैं वहाँ वेश्याओं का प्रयोग मैथुन के लिए सामान्यतः नहीं किया जाता है। उन देशों में पुरुष उनके साथ सोने में उतना सुख नहीं पाते जितना सुख अपना बूट की ठोकर से उनको दौड़ा देने में पाते हैं। अपने यौन-सुख के शरीर पर दन्त क्षत और नख-क्षत के चिह्न बनाने की बजाय वे चाकू से उसकी त्वचा छीलने के लिए अधिक लालायित हैं। नाखून से कष्ट पहुँचाना वे काफी नहीं समझते क्योंकि नारी के मुख से मात्र 'सीत्कार' सुनना अब उनका अभीष्ट नहीं है। बल्कि वे उस 'सीत्कार' को 'चीत्कार' बनाना चाहते हैं।

इस प्रकार के असामान्य यौनाचारी बनने के कारणों पर पिछले प्रकरणों में विचार हुआ है। यौनावेग के असामान्य बनने का कारण बताते हुए इसी पुस्तक में एक जगह[1] कहा गया है कि वर्जनाएँ कम होने से व्यक्ति को असामान्य कामी बनने की प्रेरणा मिलती है। दूसरी जगह[2] यह कहा गया है कि वर्जनाओं ने ही यौनावेग को असामान्य तीव्रगति दी है।

प्रकटतः ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। लेकिन दोनों ठीक हैं। जहाँ इस आवेग की प्रबलता का कारण वर्जना बताया गया है वहाँ यह साथ कहा गया है कि उद्दीपन के साधनों पर प्रतिबन्ध न होने और उद्दीपन शमन के साधनों पर प्रतिबन्ध होने से यह आवेग असामान्य बना है। उद्दीपन के प्रेरक कारणों में नारी के फैशन मुख्य हैं।

उन फैशनों को चलाने के लिए प्रेरित करने वाला व्यक्ति पुरुष खुद है लेकिन फैशन परेडों की इस भीड़ भाड़ में किसको इतनी फुरसत है कि वास्तविक प्रेरकों की छान-बीन करे। वास्तविक कारण चाहे कुछ भी हो, लेकिन यह सच है कि अपने आपको प्राप्तव्य बनने की प्रतियोगिता में एक नारी दूसरी से बाजी मार ले जाना चाहती है। वह अधिक से अधिक पुरुषों को लुभाना चाहती है और कम से कम पुरुषों के लिए सुलभ बनना चाहती है। पहले किसी के मन में अपने प्रति लोभ दिलाना फिर उसी के लिए अप्राप्य बनना—यह दोतरफी क्रिया पुरुष की प्रतिहिंसा की अग्नि को आहुति देती है। उस अग्नि को शान्त करने के लिए वह नारी को पाना चाहता है लेकिन अपने साथ सोने का अवसर देने के लिए नहीं

१ देखें प्रकरण ३ का अनभाग 'वर्जन-हीन समाज की परिकल्पना'।
२ देखें प्रकरण ३ अनभाग 'यौनवेग प्रबल क्यों'।

क्योकि सहशयन म उसके लिए कोई नवीनता नहा, उसका सतीत्व छेदन के लिए भी नहीं क्योकि अपेक्षाकृत निषेधहीन समाज मे सतीत्व की पहले सी महिमा नहीं रही, बलात्कार क लिए भी नही, क्योकि उस समाज की वयस्क नारी के लिए बलात्कृत होना एक रोचक अभियान-सा बन गया है, वेदनावादी पुरुष अपने आपको बेवकूफ नही प्रकट करना चाहता कि नारी-समुदाय द्वारा पीडित होकर उसी की पसन्द का कोई काम उसके साथ करे।

फिर उसकी प्रतिहिंसा की अग्नि कसे शांत हो? इस उधेडबुन म कभी वह अपने हाथ मे आयी नारी के दात तोड देता है, कभी उसके शरीर पर घाव बना देता है। इस प्रकार के किसी उपाय से उस पीडित करके वह ऐसे शान्त हो जाता है जसे उसके प्रतिशोध का एक पव पूरा हो गया हो।

अभी वेदना सवेदन के एक रूप 'पीडित करने' से प्राप्त होने वाले यौन सुख के बारे म विचार हुआ है। उसी सवेदन का दूसरा रूप 'पीडित होना भी है।

'वदना-सहिष्णुता' मे यौन सुख पाने की प्रवत्ति अब तक नारी म विकसित होती रही है लेकिन पिछले कुछ अर्से से पुरुष म भी यह प्रवृत्ति बढी है। इसका कारण है—त्वचा का अपेक्षाकृत सवेदनहीन होना। ज्यो ज्यों चुम्बन आलिगन आदि स्पश सुखो पर सामाजिक आपत्ति कम होती जाती है त्यो-त्यो त्वचा की अनुभूतिहीनता बढती जाती है। जितने प्रगाढ स्पश से पहले शरीर म रक्त सचार की गति बढ जाती थी, उतनी प्रगाढता से अब रोमांच नही होता। इस स्थिति म उत्तेजित होने की कामना रखने वाला पुरुष विक्षिप्त सा होकर मानो चीख चीख कर कहना चाहता है —

"हाय! मैं क्या करू! मरे लिए यौनागो के परस्पर मिलन म कोई सुख नही रहा।" वह अपने यौनपूरक से यह याचना करना चाहता है—'मेरे अगो को अब कोई निष्क्रिय चिकनी ग्रहणक प्रणाली नही चाहिए। उस घषण के लिए काई खुरदरे किस्म की ग्रहणक वस्तु दो। और कुछ न हो तो खुरदरी जबान से उसका स्पश करके देखो। मेरे शरीर पर हाथ फेर कर मुझमें रोमांच पदा करने का विफल प्रयत्न मत करो। यह सब बेकार है। अपने स्पश को और तीक्ष्ण बनाओ। कोडा लाओ। चाकू लाओ। उससे मरी त्वचा को कुरद कर कोई एसी नस तलाश करो,

जिसे छूते ही मुझमें सिहरन पैदा हो जाए। जिससे मुझे कुछ यातना मिले ताकि उस यातना को ही मैं काम सुख का स्थानापन्न सुख समझ लूँ।

"ठहरो, मैं ऐसा उन्मत्त हो गया हूँ कि यह काम जो मुझे तुम्हारे प्रति करना चाहिए उसे करने के लिए तुम्हें प्रेरित कर रहा हूँ। साथी अपने हाथ का कोड़ा मुझे दे दो। मैं तुम्हें यन्त्रणा सहिष्णुता के जिस शिखर तक पहुँचा चुका हूँ, उस शिखर तक की वेदना पहुँचाने के योग्य अब मैं स्वयं नहीं रहा। इसलिए इस कोड़े द्वारा तुम्हें कष्ट पहुँचा कर मैं खुद को समझा लेना चाहता हूँ कि मैंने तुम्हारे साथ बलात्कार कर लिया। इससे मैं अपने पुरुषत्व को यह तसल्ली दे सकूँगा कि मैं अब भी स्त्रियों के लिए कष्टकर हूँ।"

किसी को यातना देकर यौन सुख प्राप्त करना अब तक अवैध है। अवैध होने के कारण यह सुख सार्वजनिक नहीं हो पाया। लेकिन वेदना वादी व्यक्ति 'वैयक्तिक-स्वतन्त्रता' के हामी का रूप धर कर इसे वैध रूप देने के लिए समाज या शासन के समक्ष यह तर्क प्रस्तुत करने के प्रयत्न में है कि यौन-तुष्टि प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। यदि दो यौन पूरक अपने मन पसन्द उपाय से यौन-तुष्टि प्राप्त करना चाहते हैं तो कानून को उनकी सुख प्राप्ति का बाधक नहीं बनना चाहिए।

यदि कानून बनाने का अधिकार उपर्युक्त प्रकार के असामान्य-यौन कर्मियों के हाथ में आ जाए। जिसके फलस्वरूप वेदना संवेदन को सामाजिक मान्यता मिल जाए तो वेदना संवेदन के अन्तर्गत आने वाले वर्तमान सभी कृत्य सामान्य सुख के दायरे में आ जाएँगे। उस समय असामान्य सुख का खोजी मानव, यौन सुख प्राप्त करने के लिए अगले पड़ाव की ओर चल पड़ेगा। वह अगला पड़ाव शायद यह हो कि व्यक्ति काम तुष्टि के लिए यौन पूरक की बोटियाँ चबाने लगे। या अधिक यौनावेग में आने पर कर्ता अपने यौनपूरक को पहाड़ की चोटी पर ले जाकर धक्का दे दे। उस समय इस प्रकार की खबरें पढ़ने पर किसी को रोमांच न होगा—

"आज अमुक नदी में एक नग्न युवक या युवती की लाश पायी गयी जिसके शरीर पर

नग्नवाद

पिछले प्रकरण मे त्वचा क माध्यम से उत्तेजना प्राप्त करने के असामान्य उपायों की चर्चा हुई है। प्रस्तुत प्रकरण म दृष्टि के माध्यम स उत्तेजित होने के उपायो पर विचार होना है।

यौन-पूरक का अवलोकन करना एक सुखद क्रिया है। इस सामान्य सुखद क्रिया को अधिक सुखकर बनाने की इच्छा व्यक्ति म उठना स्वाभाविक है। इस स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति के प्रयत्न करते हुए व्यक्ति न अपनी दृक् अनुभूति को इस स्तर तक पहुँचा दिया है कि उसे अब धूप स्नानवाद नामी आन्दोलन छेड़ने की आवश्यकता आ पडी।

धूप स्नान-वाद 'नग्नवाद' का नया नाम है इस वाद के पीछे कामाग प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी काम करती है। कामाग प्रदर्शनेच्छा (एग्ज़िबिशन इज़म) का विवेचन श्रेष्ठक भावना के अन्तर्गत आगे होना है। प्रस्तुत विषय है खुद को उत्तेजित करने के लिए अपने यौन-पूरक का आवरणहीन देखना। यह विषय दृक् अनुभूति स सम्बद्ध है।

अपनी भूखी नजर की तृप्ति के लिए पहले का मानव लुके छिप व्यक्तिगत प्रयत्न किया करता था लेकिन आज का कानूनदा मानव अपनी इस

जिसे छूते ही मुझमें सिहरन पैदा हो जाए। जिससे मुझे कुछ यातना मिले ताकि उस यातना को ही मैं काम सुख का स्थानापन्न गुन समझ लूँ।

"ठहरो, मैं कैसा उन्मत्त हो गया हूँ कि यह काम जो मुझे तुम्हारे प्रति करना चाहिए उसे करने के लिए तुम्हें प्रेरित कर रहा हूँ। लाओ अपने हाथ का कोड़ा मुझे दे दो। मैं तुम्हें वेदना सहिष्णुता के जिस शिखर तक पहुँचा चुका हूँ, उस शिखर तक की वेदना पहुँचाने के योग्य अब मैं स्वयं नहीं रहा। इसलिए इस कोड़े द्वारा तुम्हें कष्ट पहुँचा कर मैं खुद को समझा लेना चाहता हूँ कि मैंने तुम्हारे साथ बलात्कार कर लिया। इससे मैं अपने पुरुषत्व को यह तसल्ली दे सकूँगा कि मैं अब भी स्त्रियों के लिए कष्टकर हूँ।'

किसी को यातना देकर यौन सुख प्राप्त करना अब तक अवैध है। अवैध होने के कारण यह सुख सार्वजनिक नहीं हो पाया। लेकिन वेदनावादी व्यक्ति वैयक्तिक-स्वतन्त्रता के हामी का रूप धर कर इसे वैध रूप देने के लिए समाज या शासन के समक्ष यह तर्क प्रस्तुत करने के प्रयत्न में है कि यौन-तुष्टि प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। यदि दो यौन-पूरक अपने मन पसन्द उपाय से यौन-तुष्टि प्राप्त करना चाहते हैं, तो कानून को उनकी सुख प्राप्ति का बाधक नहीं बनना चाहिए।

यदि कानून बनाने का अधिकार उपयुक्त प्रकार के असामान्य-यौन कर्मियों के हाथ में आ जाए। जिसके फलस्वरूप वेदना संवेदन को सामाजिक मान्यता मिल जाए तो वेदना संवेदन के अन्तर्गत आने वाले वर्तमान सभी कृत्य सामान्य सुख के दायरे में आ जाएंगे। उस समय असामान्य सुख का खोजी मानव, यौन सुख प्राप्त करने के लिए अगले पड़ाव की ओर चल पड़ेगा। वह अगला पड़ाव शायद यह हो कि व्यक्ति काम तुष्टि के लिए यौन पूरक की बोटियाँ चबाने लगे। या अधिक यौनावेश में आने पर कर्ता अपने यौनपूरक को पहाड़ की चोटी पर ले जाकर धक्का दे दे। उस समय इस प्रकार की खबरें पढ़ने पर किसी का रोमांच न होगा—

'आज अमुक नदी में एक नग्न युवक या युवती की लाश पायी गयी जिसके शरीर पर '

नग्नवाद

पिछले प्रकरण म त्वचा के माध्यम से उत्तेजना प्राप्त करने के असामान्य उपाया की चर्चा हुई है। प्रस्तुत प्रकरण में दृष्टि के माध्यम से उत्तेजित होने के उपाया पर विचार होना है।

यौन-पूरक का अवलाकन करना एक सुखद क्रिया है। इस सामान्य सुखद क्रिया को अधिक सुखकर बनाने की इच्छा व्यक्ति म उठना स्वाभाविक है। उस स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति के प्रयत्न करत हुए व्यक्ति ने अपनी दक अनुभूति को इस स्तर तक पहुँचा दिया है कि उसे अब धूप स्नानवाद नामी आन्दोलन छेड़ने की आवश्यकता आ पड़ी।

धूप-स्नान-वाद नग्नवाद का नया नाम है इस वाद के पीछे कामाग प्रदर्शन की प्रवृत्ति भी काम करती है। कामाग प्रदर्शनेच्छा (एग्जिबिशन इज़्म) का विवेचन श्रेष्ठक भावना के अन्तर्गत आग होना है। प्रस्तुत विषय है खुद का उत्तेजित करने के लिए अपने यौन-पूरक को आवरणहीन दखना। *यह विषय दृक् अनुभूति से सम्बद्ध है।*

अपनी भूखी नजर की तृप्ति के लिए पहले का मानव लुके छिपे व्यक्ति गत प्रयत्न किया करता था लेकिन आज का कानूनदा मानव अपनी इस

इच्छा को विधि सम्मत सिद्ध करके सारी इच्छा तृप्ति करना चाहता है ताकि उसे कुछ वर्जित न हो। उसकी इस इच्छा की पूर्ति में जो सहायक बने हैं, उनमें मुख्य हैं धूप स्नानवाले परिवार। ये परिवार पूर्णतः नग्न और पर्दे बिना की समझ में नहीं आती हैं इसलिए सम्पूर्ण नग्नता में प्रकाशित की जाती हैं। 'धूप स्नान' या 'नग्न' को उन परिवारों से काफी बल मिला है।

धूप स्नान के दो लाभ बताए जाते हैं। एक तो यह कि सूर्य किरणों का पूरे शरीर से सम्पर्क रहने से स्वास्थ्य-लाभ होता है। दूसरा यह कि वस्त्र प्रयोग ने शरीर को रहस्यमय बना कर मानव में यौन चिन्तन की जो तथाकथित अस्वस्थता प्रदान की है, वस्त्रों का बहिष्कार करके ही व्यक्ति यौन चिन्तन की उस अस्वस्थता को दूर कर सकता है। धूप-स्नान वस्त्रों के बहिष्कार करने का अवसर देता है।

सूर्य किरणों में जीवन-तत्त्वों की मौजूदगी से इन्कार नहीं किया जा सकता, लेकिन उन किरणों से शरीर का ज़रा सा भाग भी अछूता न रहे—यह कहना अतिवाद है। यदि मानव मन की धार के रोक-टोक बन्द न किया गया तो हो सकता है कि वह बल का मूँड मुडा कर अपने कपाल तक किरणों का सीधा स्पर्श कराने लगे।

यहाँ हम यह मानने से कोई इन्कार नहीं कि कपड़ा के प्रयोग ने शरीर की यौन विशेषताओं तथा यौनांगों के प्रति उत्सुकता जाग्रत कर दी है। यह भी सही है कि इन दिनों हुए कपड़ों के अपेक्षाकृत-संक्षेपण के कारण दोयम दर्जे की यौन विशेषताओं के प्रति मानव की जिज्ञासा घटी है। अब पहले जैसी वह स्थिति नहीं रही कि पर्दे में से छलक कर किसी नारी की दीख पड़ने वाली ग्रीवा या टखना पुरुष को उद्दीप्त कर दे बल्कि आज के सभ्य समझे जाने वाले समाज में स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी है कि गर्दन से एक फुट नीचे का और टखने से दो फुट ऊँचे तक का भाग दिखाई दे जाना पुरुष के लिए विशेष उद्दीपन का कारण नहीं रहा।

यहाँ पुरुष का एकांगी दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का कारण यह है कि कपड़ों का यह संक्षेपण नारी ने अपनाया है। नारी ने क्या अपनाया है उस पर आगे[1] विचार होना है। अब तक के वस्त्र संक्षेपन के प्रभाव को देखते हुए यह ठीक सा लगता है कि यदि पूरे समाज के नर नारी अपना पूरा आवरण

---

१ विवरण देख प्रकरण १० का अनुभाग 'फैशन का आधार' और प्रकरण ८

उतार फेंकें तो कुछ अर्से बाद नग्न शरीर उत्तेजक नही रहेगा, लेकिन यहाँ सवाल यह उभरता है कि उस भावी वातावरण म पला व्यक्ति जब कभी उत्तेजित होना चाहेगा तो उसे क्या करना होगा ?

यह तो नही है कि व्यक्ति अपनी उत्तेजनशीलता नष्ट करना चाहता है। यदि सचमुच वह उत्तेजनाओं स छुटकारा पाना चाहता ह तो उसके लिए परेशानी की कोई बात नही। आज का औषधि विज्ञान इतना समथ है कि वह व्यक्ति को कुछ ही क्षणों म हर प्रकार की उत्तेजना से मुक्ति दिला सकता है। लेकिन नग्नवाद का पोषक मानव उत्तेजना से मुक्ति पाने के लिए औषधि का सहारा नही लेना चाहता बल्कि अपनी उत्तेजित होने की क्षमता को बनाए रखते हुए व्यथ की उत्तेजना से बचना चाहता है।

उस मानव के अन्तरतम म यदि भाककर देखा जाए तो ज्ञात होता है कि वास्तव म वह उत्तेजना स मुक्ति नही पाना चाहता बल्कि उत्तेजित होना चाहता है लेकिन वतमान अद्ध-नग्नता उसे उद्दीप्त करने म असमथ है। वह अपनी ताक झाक की आदत को दृक् अनुभूति के उस स्तर तक पहुँचा चुका है जहा नगी पिंडलियाँ और टापलेस लिबास से रक्त-सचार तीव्र नही होता। यौन-स्फीति के लिए अब उसे पहले से अधिक प्रबल प्रेरणाओं की जरूरत आन पडी है।

सावजनिक रूप से निर्वसित होना अब तक अवैध है, इसलिए आज के अद्ध-नग्न समाज म रहने वाला मानव पूण नग्नता के प्रचलित होने के सपने देख रहा है। मौजूदा स्थिति मे वह धूप-स्नान शिविरो म अपनी आखो की भूख की तप्ति की आशा लगाए हुए है। सोचना यह है कि इन शिविरो के अत्यधिक प्रचलन के बाद जब नगापन सामान्य हो जाएगा, उस समय दृष्टि सवेदन रूपी समस्या का हल क्या होगा ? स्पष्ट है कि उस स्थिति मे अपने आपको उत्तेजित करने के लिए भावी मानव को, उस समय के नगेपन से आगे जाना होगा। आगे जाने का माग अगर बन्द होगा तो उसे नया माग बनाना होगा। कपडे उतारने के बाद त्वचा छीनने की बारी आएगी। फिर उसके बाद की स्थिति की कल्पना करने के लिए हम उन व्यक्तियो का स्मरण करना चाहिए जिनकी दृक् अनुभूति असामान्य-दृश्य-दशन के लिए नय-नये उपाय खोजती रही है। हमारा आशय पुराने युग के अय्याश राजे-नवाबो से है। वे खुद को उत्तेजित करने के लिए मैथुन-समारोह अपनी आँखो के सामने आयोजित करके जिस प्रकार अपने आपको उद्दीप्त

किया करते थे। नये युग के औसत व्यक्ति को, अपने आपको उत्तेजित करने के लिए उससे मिलते-जुलते तीव्र उद्दीपकों की आवश्यकता महसूस होने लगेगी।

•
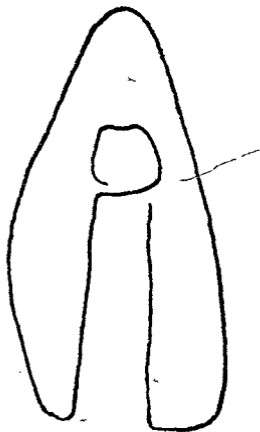
यौन-सुख प्राप्ति के उपकरण

यौन-सुख की परिभाषा

यौन सुख क्या है ?

गूंगे का गुड कह कर इस प्रश्न के उत्तर से सहज ही म पलायन किया जा सकता है, लेकिन जहाँ सभी गूगे हो और सभी ने थोडा-बहुत गुड का रसास्वादन किया हुआ हो, वहाँ यौन-सुख की अनुभूति का शब्दों के माध्यम से दूसरो को आभास कराना असम्भव नही है। यौन सुख की अभिव्यक्ति इन शब्दा मे व्यक्त की जा सकती है—

'प्रगाढ स्पश-सुख ही यौन सुख है।

यौन प्रवृत्ति से सम्बद्ध सभी प्रेरणाएँ जीव को प्रगाढस्पश के लिए प्रेरित करती है। भले ही यह स्पश दो विषम लिंगिया म परस्पर हो या दो सम लिंगियो म हो अथवा दो भिन्न यौनि के जीवा म हो। एक ही जीव के दो विभिन्न अगा के घषण द्वारा भी स्पश प्रगाड किया जा सकता है।

सहलाया जाना स्पश सुख प्राप्त करने का एक सामाय सा माध्यम है। सहलाने या सहलाए जाने से मथुन तक, मथुन से कोडे लगाने, लगवाने तक की सारी क्रियाएँ स्पश की विभिन्न अवस्थाएँ हैं।

एक व्यक्ति के लिए स्पश की जो अवस्था अतिरजित समझी जाती है,

दूसरे के लिए हो सक्ता है कि वह अवस्था साधारण हो। साधारण अवस्था मे विशेष सुख की अनुभूति नही होती इसलिए उस साधारण को अतिरजित बनाने की कामना उसे रहती है। यह कामना उस क्षण तक बनी रहती है जिस क्षण तक वह त्वचा के उस अतिम स्तर का छू नही लेता जिस स्तर के साथ सट कर रक्त का अथाह सागर लहराता है। अत्यन्त सूक्ष्म त्वचा स्तर वाला शरीर का वह भाग शरीर का अत्यन्त सवेदनशील भाग समझा जाता है।

o

यौनांगों की खोज

शरीर के अत्यन्त सवेदन शील अग की खोज की प्रक्रिया जीव मे इस प्रकार होती है —

पूरी औसत आयु का लगभग आठवा भाग व्यतीत करने के बाद जीव इस योग्य हो जाता है कि वह दैनिक क्रियाओ म व्यय करने के उपरात कुछ अतिरिक्त शक्ति बचा सके। मानव की यह अवस्था किशोरावस्था स पूव की उम्र होती है। उस अवस्था से किशोरावस्था तक पहुँचने की दो तीन वप की अवधि म उस अतिरिक्त शक्ति को सम्भाले रखना बालक या बालिका क लिए असह्य होता है। उस अतिरिक्त ऊजा का दबाव उसके आन्तरिक-सस्थान को तब तक झेलना होता ह जब तक कि वह उस ऊर्जा को विरेचित करने की किसी विधि से अवगत नही हो जाता। इस अवधि मे उसकी पूरी काया पके हुए एक ऐस फोड़े की भाति होती है जो फूटने का कोई बहाना तलाश कर रहा होता है। उस लम्बी अवधि के अपार क्षणा म, शरीर का सर्वेक्षण करते हुए, स्पश द्वारा बालक या बालिका को किसी क्षण यह ज्ञान हो जाता है कि उसके शरीर का कौन-सा भाग सर्वाधिक सवदनशील है। वह भाग वही हो सकता है जहाँ की त्वचा अत्यन्त

सूक्ष्म हो। जिससे स्पश होत ही उससे सट कर लहराने वाले रक्त सागर म हलचल सी मच जाए। रक्त की गति सामान्य से तेज़ होने के कारण उसका शरीर गर्मा जाए। शरीर की वह गर्मी वायु मण्डल मे घुलकर विरेचक की अतिरिक्त ऊर्जा का हनन कर दे।

शरीर का अत्यन्त सवेदन शील अग वही हो सकता है जो ओट मे हो, या उस पर त्वचा की पत्त मढी हुई हो। नर का वह अग शिश्न मुड है और मादा का वह अग योनि का भीतरी भाग है।

जब कपडो का प्रयोग शुरू न हुआ होगा तब नर मादा के य दोनो यौनांग सम्भवत अब जितने सवेदन शील न रहे होगे। लेकिन आट मे स्थित होने के कारण शरीर के अन्य अगो की अपेक्षा अधिक अनुभूतिशील अवश्य रहे हागे।

o
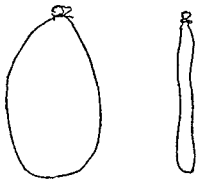
प्राक्-क्रीडाओं का ध्येय

स्पर्श सुख को प्रगाढ बनाने की दिशा म शिश्न तथा यौनि की खोज जीव के लिए महत्त्वपूर्ण उपलब्धि बन गयी। एक विशिष्ट क्रिया के लिए अनन्त वर्षों से निरन्तर प्रयुक्त होते रहने के कारण ये दोनो अग शरीर की स्पर्शानुभूति के प्रतिनिधि समझे जाने लगे। इन सवेदनशील अगो को सवेदन विशेषज्ञ बनाने के लिए जीव ने शारीरिक क्रियाओ के रूप म कुछ परीक्षण किए। जो परीक्षित क्रियाएँ उन यौनांगो मे रक्त की सघनता अधिक बढाने में सफल हुई वे प्राक् क्रीडाएँ कही जाने लगीं। प्राक् क्रीडाओ ने तीव्र अनुभूति को और भी तीखा बना दिया। वह यो कि सुरक्षित स्थान पर स्थित होने के कारण यौनांगो पर त्वचा की पत पहले ही अत्यन्त सूक्ष्म होती है। जब उस अग म रक्त का भराव बढ़ता है तो उस अग के प्रहपण के कारण उसकी आवरक त्वचा मे खिचाव पैदा होता है। फलत सूक्ष्म त्वचा सूक्ष्मतम बन जाती है। उस नाममात्र की त्वचा की आड म एक के अन्तरग से दूसरे के अन्तरग तक मानो कोई व्यवधान नहीं रहता। एक के अन्तरग द्वारा दूसरे के अन्तरग को सहलाया जाना त्वक् अनुभूति को उच्चतम शिखर पर पहुँचा देता है और वह तीक्ष्ण स्पर्श बोध, जीव को बारम्बार प्राक् क्रीडाओं के लिए बाध्य करता है।

उत्तेजना-निवृत्ति का महत्त्व

मानव यौनोत्तेजना चाहता है। वह उत्तेजना की अवस्था को दीर्घ कालिक बनाने की कामना भी करता है। मात्र इसलिए नहीं कि उत्तेजना म सुखानुभूति है बल्कि इसलिए भी कि उत्तेजना के उत्कर्ष तक पहुँचने के बाद अपकर्ष तक पहुचने स होने वाले हल्केपन की अनुभूति तक, बिना उत्तेजना की सीढी लाघ पहुँचा नही जा सकता।

स्वय उत्तेजना अपने उत्कर्षकाल म उतनी सुखद नही होती जितनी सुखद बाद म उसकी स्मृति होती है। आवेश के क्षणा मे न व्यक्ति को अपनी सुध होती है, न अपने यौन पूरक की। जब आवेग उतर जाता है उस समय आवेगावस्था की क्रियाशीलता याद आती है। उत्तेजना के प्रेरकों के बारे मे भरपूर चिन्तन करने का अवसर मिलता है। उन क्षणा की सुखद याद म खोकर व्यक्ति चाहता है कि क्या ही अच्छा होता, यदि तनाव के वे विगत क्षण और अधिक लम्बे होते। उसस भी अच्छा तब होता जब उत्तेजना की वह अवस्था स्थायी हो जाती।

उत्तेजना निवृत्ति के बाद इस प्रकार की कामना करना कुछ अजीब बात नही है। अजीब स्थिति तब आ सकती है जब सचमुच उत्तेजना की

अवस्था स्थायी हो जाए। जब उत्तेजित अवस्था और उत्तेजन-हीनता की अवस्था का भेद प्रकट करने वाला कोई व्यवधान न रहे। कल्पना की जा सकती है कि यदि सचमुच ऐसा हो जाता तो क्या होता? शायद आवेग की एकरूपता से व्यक्ति उकता जाता या चिरन्तन तनाव से घबड़ा कर उससे मुक्ति पाने के लिए जीव अपने उत्तेजित शरीर को ही नष्ट कर डालता। लेकिन शरीर नष्ट करने की नौबत नहीं आ सकती क्योंकि उत्तेजना चिरन्तन नहीं बन सकती। भाव की जो अवस्था अधिक समय तक स्थिर रहे वह उत्तेजना नहीं कहला सकती। उत्तेजना घटती-बढ़ती या चढ़ती-उतरती रहती है। जब वह उत्कर्ष पर होती है तो धारक को उसे अपकर्ष तक ले जाने की कामना होती है। जब घटती या उतरती है तब तनाव के क्षणों की सुखद याद के सहारे व्यक्ति पुन यौन उत्तेजना से ओत प्रोत होना चाहता है।

प्राक्क्रीडाओं के माध्यम से व्यक्ति उत्तेजना को उच्चतम शिखर तक ले जाना चाहता है। वह इसलिए कि उत्तेजना जितने ऊँचे शिखर तक जाती है उसके अपकर्ष के समय हल्केपन के आभास का सुख भी उतना ही अधिक होता है।

०

क्षरण-सुख

उत्तेजना की अवस्था स सामान्यावस्था तक एकदम नही आया जा सकता। उन दोना अवस्थाओ के बीच एक तीसरी अवस्था को आना होता है। आमतौर पर वह तीसरी अवस्था, वीय के क्षरण की अवस्था समझी जाती है।

तीसरी अवस्था को क्षरणावस्था मानने में हम काई आपत्ति नही लेकिन आमतौर पर 'क्षरण से लोग आशय 'वीय-स्खलन' लेत हैं। हमारा आशय उस स्खलन से है जो नर मादा समान रूप से करत हैं। वह क्षरण वीय का नहीं, शक्ति का होता है।

पुरुप को वीय स्खलन के समय जिस शक्ति-हीनता का आभास होता है वह शक्ति वास्तव में वीय के रूप म नही निकलती बल्कि उत्तेजना काल मे शारीरिक चेष्टाओ के रूप म क्षरित हो चुकी होती है। वीय एक सकेत है, जिसके स्खलित होते ही विसजक को उत्तेजना-काल मे होने वाली शक्ति-हीनता का आभास हो जाता है।

सकेत' का महत्त्व समझने के लिए हम एक ऐसे पथिक की मिसाल लेते हैं, जिसे महीना लम्बी यात्रा करनी है। राह म कोई नगर नहीं, कोई

या कि नहीं। कारण ? स्वप्नावस्था के गीलेपन से पूव की उत्तेजना म पूरा शरीर पूरे तौर पर भाग नही लेता। शिश्न प्रदेश म रक्त का भराव करने के लिए तज होने वाले रक्त सञ्चालन के कारण कर्ता गम हो जाता है। उस प्रदेश मे स्थित वीय सम्बन्धी ग्रथियो पर वह रक्त अपना दबाव डालकर वीय का निष्कासन कर देता है। रक्त-सचालन की तीव्रता के कारण शरीर जितना गम होता है उतनी गर्मी का निष्कासन, उतनी अधिक थकावट नही लाता कि व्यक्ति जागने के बाद अपने आपको निढाल महसूस करने लगे।

इस खाते म व्यय करने के लिए जिस व्यक्ति म जितनी अतिरिक्त शक्ति होती है शरीर म अनुकूलन बनाए रखने के लिए वीय विसजन से पूव व्यक्ति को तीव्र सक्रियता के रूप मे उतनी शक्ति का विक्षप करना पडता है। यदि सामान्य मथुन के माध्यम स उसकी अतिरिक्त शक्ति पूरे तौर स व्यय नहीं होती तो वह बलात्कारी या सडिस्ट बन जाता है। बलात्कार तथा सडिज्म के बारे म प्रकरणानुसार पहले विचार हो चुका है।

०

नारी का चरण-सुख

यौन समागम के दौरान घर्षण क्रिया मे नारी को जो आनन्द आता है उसके लिए वह आनन्द अलौकिक है। पुरुष के यौनानन्द का नारी आस्वादन नही कर सकती।

वीर्य-स्खलन के समय पुरुष को जो सुखानुभूति होती है, वह अनुभूति उसकी अपनी है नारी के यौन सुख का अनुभव पुरुष नही कर सकता।

अपने अपने सुख की अनुभूति को वे दोनो एक दूसरे के प्रति स्थानान्तरित नही कर सकते लेकिन अपनी अपनी सुखद क्रिया की पुनरावृत्ति करने के लिए वे दोनों बेताब रहते हैं।

नारी और पुरुष दोनो के समागम के दौरान एक क्षण ऐसा आता है जब वे रति से विरत हो जाते हैं। पुरुष का वह क्षण वीर्य-स्खलन के उपरान्त का होता है। पुरुष की अनुभूति के अनुसार वह समय समागम का उपसंहार-काल होता है।

मैथुन के दौरान नारी को भी किसी क्षण विरक्ति की अनुभूति होती है लेकिन रति की विरति से अनंग दर्शाने के लिए उसके यौनांग से प्रकटत निष्कासन नहीं दिखाई देता। लेकिन उसे लगता है कि समागम का उप

सहार काल आ गया है।

थोडी देर पहले सुखद लगने वाली घषण क्रिया, अचानक ही नारी का असुखकर क्यो लगने लगी ? सुखद और असुखकर अवस्था के दरम्यान तीसरी कौन-सी अवस्था आयी, जिसने सुहानी मैथुन क्रिया का सुहानापन समाप्त कर दिया ? —इन प्रश्ना का उत्तर अभी अपेक्षित है।

इन प्रश्ना का उत्तर खोजने वाला व्यक्ति आमतौर पर पुरुष होता है। वह नारी के यौन-सुख का अनुमान लगाने के लिए अपनी अनुभूतिया को पैमाना बनाता है। उसकी अपनी अनुभूति के अनुसार अत्यन्त-सुख की अवस्था वीय-क्षरण की अवस्था है। क्षरण के तुरत बाद विरति की अवस्था शुरू हो जाती है। अपनी उस अवस्था को याद करके उसकी धारणा यह बन जाती है कि अत्यत सुख 'वीय' नामी द्रव्य के विसजन म है। अपना अनुभूति के आधार पर वह इस निष्कष तक जा पहुँचता है कि नारी को भी अतीव सुख की अनुभूति तब मिल सकती है जब वह वीय जसा कोई द्रव्य क्षरित करती हो। अयथा शिथिलावस्था आ नही सकती।

अब तक किसी ने निश्चयात्मक रूप से नही कहा कि नारी वीय जसा कोई द्रव्य क्षरित करती है या नहीं। कभी-कभी किसी स्त्री को नारी जाति का प्रतिनिधि समझ कर, उससे जिरह करके यह जानने का प्रयत्न भी किया जाता है कि आनदातिरेक की अवस्था म उसका कुछ स्रवन होता है कि नहा। यौन शास्त्रियों के प्रश्ना की बौछाड का सामना न कर सकने वाली नारी कभी 'हाँ' कह देती है और कभी 'न'।

लम्बी प्रश्नावलिया के उत्तर प्राप्त करके किसी निष्कष तक पहुँचने वाली आकडा-एकत्र-पद्धति से हटकर कल्पना द्वारा इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयत्न करने मे हज नही है। इसके लिए जिज्ञासु को अपने आपसे सवप्रथम यह पूछना होगा—'क्या यह जरूरी है कि उत्तेजित स उत्तेजना रहित होने के लिए द्रव्य का प्रकटत निष्कासन हो ही ? क्या यह नहीं हो सकता कि स्खलन मूत पदाथ के रूप म न होता हो, बल्कि अदृश्य तत्त्व के रूप म होता हो ?'

अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए हम यौन विषय से हट कर अन्य विषय की ओर आते हैं। हम नाटक देखने जाते हैं, इसलिए कि उसे देखने से हमे एक प्रकार का आनन्द मिलता है। आनन्द तब मिलता है जब कथाकार, निर्देशक, अभिनेता और वाद्य-सगीत-सयोजक आदि की टीम हमारे

सामान्य भावा को आवेग बनाने म सफल हो जाती है। आवेग उग्रता के उस काल म वह हमारा कलेजा मुँह को ले आती है। एक निश्चित् समय तक हम भावावेग से विह्वल करके हमार भावना को सामान्य सतह पर लाकर वह हम छुट्टी दे देती है।

कभी कभी हम नाटक से आनन्द नहीं भी मिलता। आनन्द उस हालत म नहीं मिलता, जब उपयुक्त टीम हमारे भावा को उच्चतम शिखर तक नहीं पहुँचा पाती। यदि शिखर तक पहुँचा देती है तो उन्हें सामान्य-सतह तक वापस नहीं ला पाती। पहली अवस्था म हम भाव विह्वल हुए बिना घर लौट आते हैं। दूसरी अवस्था म हम उत्तेजित अवस्था म घर लौटते हैं। दोनो अवस्थाओं म हम आनन्द नहीं आता। पहली अवस्था म इसलिए कि उत्तेजना के शिखर तक न पहुँच पाने के कारण हमारी ग्रंथियाँ पूरी तरह क्रियाशील नहीं हो पाती। दूसरी अवस्था म इसलिए कि ग्रंथियों की क्रियाशीलता के बाद का शिथिलावस्था का सुख हम नहीं मिल पाता। नाटक का वातावरण काफी देर तक हमारे मन पर छाया रहता है जो हम नाटक के खत्म हो जाने के बाद भी उत्तेजित रखता है।

आवेग का शिखर तक पहुँचना उत्तेजनावस्था है। वह अवस्था हमारी कुछ ग्रंथियों के तीव्र स्रवन का परिणाम है। 'नाटक म रस आया या नहीं' साहित्य क्षेत्र के इस वाक्य का अर्थ वैज्ञानिक शब्दावली म यह है कि नाटक कुछ विशेष ग्रंथियों का स्रवन तीव्र करने म सफल हुआ या नहीं।

सिर्फ दृश्य काव्य ही नहीं, श्रव्य काव्य का सरस या रसहीन होना भी हमारे ग्रंथि रसा पर निर्भर है। रहस्य भरे रोमांचक उपन्यासों के पाठक के हाथ से उसका प्रिय उपन्यास यदि उस क्षण ले लिया जाए, जिस क्षण वह घात प्रतिघात की चरम सीमा पर पहुँचाया जा चुका हो, तो उस समय उसकी शारीरिक स्थिति लगभग उस मैथुनरत व्यक्ति की सी हो जाएगी, जिसका वीर्य स्खलित होते-होते रह गया हो। यदि उस पाठक को उपसंहार तक पहुँच जाने दिया जाए तो वह उसे पढकर यो शान्त हो जाएगा जैसे वह स्खलित हो गया हो। उसके शरीर से कोई मूत-पदार्थ उस समय नहीं निकलता लेकिन कुछ-न-कुछ अवश्य क्षरित होता है। वह क्षरण ऊर्जा का होता है, जो उस उपन्यास के पढे जाते समय प्राप्त होने वाली उत्तेजना म क्षरित होता है।

दृश्य काव्य या श्रव्य-काव्य के देखने पढने या सुनने से होने वाली हल्के-दर्जे की उत्तेजना और यौन नामक प्रबल उत्तेजना म बहुत फर्क है।

इसलिए उन दोना प्रकार की उत्तेजना के उतरने के बाद की निवृत्ति अवस्था मे भी फर्क होता है। यौनोत्तेजना चूंकि उच्चतम शिखर तक पहुँच सकती है और उस उत्तेजना मे मानसिक तनाव और शारीरिक-सघष, दोना रूपों में शक्ति व्यय होती है, इसलिए उस निवत्ति के बाद की अवस्था की तन्द्रा भी अत्यन्त घनी होती है। जिन उत्तेजनाओं मे (श्रव्य तथा दृश्य काव्य के पढने और देखने के समय होने वाली उत्तेजना मे) केवल मानसिक तनाव द्वारा मामूली शक्ति क्षरित होती है, उनके उतार के बाद घनी तन्द्रा नही आती। धारक को मात्र शान्ति का आभास होता है।

किसी भी माग द्वारा काफी शक्ति क्षरित करने के बाद शरीर को आराम की तलब होती है। बालक रोते रोते सो जाता है, रोने मे व्यय हुई शक्ति की क्षतिपूर्ति के लिए। दारुण पीडा के उपचार के बाद रोगी को गहरी नीद आती है। पीडा काल मे, पीडा की कारक विकृति को हराने मे जो जीवन शक्ति कम होती है, उस क्षति की पूर्ति करने के लिए नीद आती है।

अन्य क्षेत्रों के ये सब उदाहरण यहाँ देने का आशय एक तो यह बताना है कि शक्ति का विसजन चाहे जिस रूप मे हो उसके बाद ज्यों ही राहत मिलती है, पलकें बन्द होने लगती हैं। दूसरा यह कि उत्तेजित से उत्तेजना-रहित होने के लिए आवश्यक नहीं कि शरीर से किसी मूत-पदाथ का निष्कासन हो ही। बिना मूत पदाथ के निकले भी उत्तेजना के बाद वाली विरति की अवस्था आ सकती है।

यौनात्तेजना काल म शक्ति का विसजन हो चुकने के बाद एक स्थिति ऐसी आती है जब व्यक्ति निढाल होना चाहता है। निढाल होने के लिए वह किसी भी सकेत को अपनी यात्रा का पडाव मान कर अपने आपको ढीला छोड देता है। पुरुष ने वीय स्खलन को मैथुन निवत्ति की घोषणा मान लिया है।

नारी भी यौनात्तेजना काल मे अपनी शक्ति का ह्रास करती है। उसे भी निढाल होने के लिए किसी 'सकेत' की आवश्यकता पडती है। नारी का वह सकेत जानने के लिए हम नर और नारी की शारीरिक रचना का भेद समझना चाहिए।

नर और नारी, दोना एक-दूसरे के पूरक हैं। नर की शरीर रचना मे प्रवेशक होने की और नारी की शरीर रचना मे ग्रहणक होने की भिन्नता स्पष्ट होती है। विसजन के क्षेत्र म वह भिन्नता यदि इस रूप म समझ ली

जाए कि पुरुष नायक है और नारी प्रापक, तो एक-दूसरे के पूरक ये दोना गुण, दोना को यौन-सतुष्टि दे सक्ते है। दायक' और 'प्रापक' शब्दो की व्याख्या इस प्रकार है —

समागम के दौरान नर और नारी दाना मानसिक और शारीरिक क्रिया शीलता के रूप मे शक्ति का क्षरण करत हैं। अपनी क्षरण क्षमता के अनुसार शक्ति विसर्जित करने के उपरान्त दोनो ही मथुन समापन के किसी सकेत की प्रतीक्षा मे होत है। यदि वे दोना एक-सा बल क्षरित कर चुके हो तो उनम से किसी एक का निवत्ति सकेत दूसर के लिए भी निवत्ति सकेत का काम दे सक्ता है। यदि पुरुष वीय विसजन की क्रिया को अपनी उत्तेजना शान्ति का सकेत समझ सक्ता है तो नारी उस वीय के ग्रहण करने की क्रिया को अपने लिए निवत्ति का सकेत समझ सक्ती है। पुरुष जो विश्रान्ति निष्कासन म पाता है नारी वह विश्रान्ति प्राप्ति म पा सक्ती है।

यदि उन दोना म से किसी एक की उस माग द्वारा व्यय करन योग्य अतिरिक्त शक्ति दूसरे की (उसके यौन सहयोगी की) अतिरिक्त शक्ति के पूणत निचुडने से पहले चुक जाती है यानी उस क्षण दूसरा समापन का सकेत देखने की बाट म नही होता तो दूसरे की स्थिति अजीब सी हो जाती है।

यदि पहले निचुड जाने वाला यक्ति पुरुष है तो उसकी यौन-सहयो गिनी स्त्री की उस क्षण व्यय करने योग्य अतिरिक्त शक्ति म से बच जाने वाली शक्ति का विक्षेप झल्लाहट उन्माद क्लह आदि के रूप म होने लगता है। यदि पहले निचुड जाने वाला व्यक्तित्व नारी है तो उसके निचुडने के बाद पुरुष का सघपरत रहना नारी क लिए असह्य होता है। उस क्षण पुरुष का बलात् मथुन क्रिया को जारी रखना, उसे मथुन से विमुख बना देता है।

यदि उन दोना का अतिरिक्त शक्ति विसजन का काल 'लगभग' एक सा होना है तो वे दोनों एक जसे तृप्त यानी खाली होकर विश्रान्ति की गोद म पहुँच जाते है।

उपयुक्त विवरण से यह आशय नही है कि समागम काल म स्त्री कोई द्रव्य क्षरित करती ही नही है। उम काल उसके योनि माग का गीला होना यह प्रकट करता है कि उसकी यौन-ग्रन्थियाँ कुछ रस छोडती हैं। इस प्रकार के साधारण स्रवन वीय विसजन से पूव पुरुषाग स भी हाते हैं। य स्रवन मथुन के लिए प्रवत्ति के द्योतक होते हैं निवत्ति के नही। ०

प्रकरण—७

अतिवाद और यौन-प्रवृत्ति

दो विरोधी मत

एक मत

'वीय अमूल्य निधि है। शक्ति का सार रूप है। वीय का निष्कासन करना, अकाल मृत्यु का आह्वान करना है।'

दूसरा मत

यौन प्रवृत्ति एक सहज प्रवृत्ति है। वीय निष्कासन एक सहज-सामान्य प्रक्रिया है। इस निष्कासन क्रिया म बाधा डालना, यौन विकृतिया को जन्म देना है।

पहला मत धर्माचार्यों और ब्रह्मचारियों का है और दूसरा आधुनिक यौन शास्त्रियो का। साधारण व्यक्ति यदि पहले मत पर श्रद्धा रखता है तो वह वीय खच करने के मामले म बेहद कजूस हो जाता है। जिस मुसीबत के वक्त के लिए वह वीय का सचय करता है उसके जीवन-काल म सकट का वह क्षण कब आता है इसका उसे ज्ञान नहीं रहता। यदि वह दूसरा मत शिरोधाय करता है तो वह वीय के अपव्यय म कोई बुराई नहीं समझता। वह मल मूत्र विसजन की क्रिया तथा उदान अपान-वायु के निष्कासन मौका-महल देख कर करता है, लेकिन वीय विसजन के लिए वह

किसी मौका या ओट की जगह तलाश करने की जरूरत नही समझता।

यह सब देख कर जिज्ञासु सोच मे पड जाता है कि क्या सहज प्रवृत्ति मात्र 'यौन प्रवृत्ति ही रह गयी है ?

●

ब्रह्मचर्य बनाम वीर्य-रक्षा-अभियान

ब्रह्मचय का शाब्दिक अथ है—ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए साधना। लेकिन आमतौर पर इसका यह शाब्दिक अथ व्यवहार मे नही लाया जाता। ब्रह्मचय सम्बन्धी पुस्तका म आठ प्रकार[1] के मैथुनो से बचने की स्थिति को ब्रह्मचय कहा गया है। ब्रह्मचय का यह अथ भी पुस्तको तक ही सीमित है। पुस्तका से बाहर की दुनिया मे 'ब्रह्मचय' का तीसरा अथ लिया जाता है—विवाह न करना। इस अथ के अधिक प्रचलन का कारण यह है कि सामान्य व्यक्ति किसी तथाकथित ब्रह्मचारी की उचटती निगाह से यह जाँच कर नही सकता कि वह मथुन से (या वीय-स्खलन से) बच रहा

---

१ स्मरणं कीतन केलि प्रेक्षण गुह्य भाषणम्। सकल्पोऽध्यवसाय क्रिया निष्पत्ति रेव च॥

एत मथुनमष्टाग प्रवदन्ति मनीषिण। विपरीत ब्रह्मचयम् एतद् एवाष्ट लक्षणम्॥

अर्थ—स्त्रियों का स्मरण करना उनका नाम-कीतन करना उनसे क्रीडा करना उन्हें देखना उनसे गुप्त बातचीत करना, उनसे कुविचार का सकल्प करना उनसे कुविचार का पक्का इरादा कर लेना, उनसे मथुन कर लेना—यह आठ प्रकार का मैथुन हुआ करता है। इसी से विपरीत आठ प्रकार का ब्रह्मचय हुआ करता है।

है कि नही। अत वह उसे ब्रह्मचारी मान लेता है जिसने विवाह न किया हो। उस तथाकथित ब्रह्मचारी को श्रद्धालु समाज वह आदर भी द देता है जो उसके धम ग्रथा के अनुसार जितेन्द्रिय व्यक्ति को मिलना चाहिए।

ब्रह्मचय सम्बन्धी नियमो का प्रतिष्ठित करने और काम भावना को निन्दित बनाने मे स्वास्थ्य सम्ब धी पुरानी पुस्तको और धमग्र था का भी बहुत योग रहा है। धम ग्रन्थो म काम की जो भत्सना की गयी है उसे पढ कर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बीते जमाने मे ऐसी स्थिति आई होगी जब यौन उच्छखलता सीमा से बढ गयी होगी। उस काल के यौन चिंतन म रमे व्यक्तियो ने दूसरी सामाजिक जिम्मेदारियो स आखें मूद ली हागी। तत्कालीन चितको ने उस उच्छखलता को नियत्रित करने की आवश्यकता महसूस की होगी। राग रग म रत व्यक्तियो को उन रगीनिया से विरत करने के लिए उन्हाने वीय रक्षा का महत्त्व बढा कर बताया होगा और वीयनाश की हानियो का हद से ज्यादा बखान किया हागा। यह शायद उस काल की लिखी स्वास्थ्य तथा धम सहिताओ का प्रभाव था कि अपने ग्र थो की आज्ञा मान कर कोई व्यक्ति जितेन्द्रिय बनने के लिए तपस्या म लीन हो गया, कोई स्वेच्छा स नपुसक बन गया और किसी ने शरीर को अकाम्य बनाने के लिए नहाना धोना बन्द करके मैल को अपना अन्यतम शृगार प्रसाधन मान लिया।

धम सहिताओ के रचेता पुरुष थे और पुरुष की कमजोरी नारी थी इसलिए अपने अनुगामियो को नारी से दूर रखने के लिए उन्हाने नारी निन्दा विषय का एक नया अभियान शुरू किया। फलत नर की खान नारी नरक की खान समझी जाने लगी। अपने कथन का प्रभावशाली बनाने के लिए सहिताकारो ने इतिहास म वर्णित एसे अविवाहित पुरुषो के नाम खोजे जिन्हाने लम्बी आयु पायी थी या जा सर्दी गर्मी सहन करने के मामले म असाधारण रूप से सहिष्णु समझे गये थ या जिनके अतीव शक्तिशाली होने के बारे म दन्तकथाए प्रचलित थीं। उनके आयुष्मान, सहिष्णु और शक्तिशाली हाने का वास्तविक कारण चाह और कुछ भी रहा हो, ब्रह्मचय के प्रतिष्ठाताओ ने प्रकट यह किया कि वे चूकि अमोघ वीयवान थ इसलिए असाधारण क्षमता रखत थ। इतिहास के उन विवाहित या कामी पुरुषो को, जो वीरता सहिष्णुता और शक्तिमान हान के मामले में उन अविवाहितो स सख्या म अधिक थ, ब्रह्मचय सम्बन्धी प्रवचनो और लेखो म स्थान न मिला।

शताब्दियों से जारी रहने वाले इस प्रचार अभियान का फल यह हुआ कि जो व्यक्ति व्यावहारिक जीवन में संयम का नाम भी न जानता था, अपनी मान रक्षा के लिए उसे भी ब्रह्मचर्य का उपदेश देना पड़ता। ऐसे अनाधिकारी व्यक्तियों के प्रयत्नों से ब्रह्मचर्य दुराग्रह द्वारा अनाधिकारी व्यक्तियों पर लादा जाने लगा।

ब्रह्मचर्य वस्तुतः ऐसी चर्या नहीं है जो दूसरों की ओर से आग्रह होने पर स्वीकार की जाए अपितु स्वेच्छा से धारित हो जाने वाली चर्या है। यह चर्या हर उस व्यक्ति द्वारा स्वतः ही अपना ली जाती है जो किसी भी साधना में लीन होता है। वह साधना ब्रह्म की भी हो सकती है कला या ज्ञान की भी।

व्यक्ति जब अपनी मन पसन्द साधना में लीन होता है तब शारीरिक अथवा मानसिक सक्रियता के मार्ग द्वारा उसकी अतिरिक्त शक्ति का हनन हो रहा होता है। एक विशिष्ट मार्ग द्वारा शक्ति व्यय करते रहने से उसमें इतनी अधिक अतिरिक्त शक्ति नहीं रह जाती जिसे वह यौनोत्तेजना में व्यय कर सके। वातावरण में फैले अनन्त प्रेरकों की प्रेरणा वश या यौन-सम्बन्धी प्रक्रिया के अस्तित्व के कारण उसे कभी कभी यौन उत्साह तो होती है लेकिन आमतौर पर वह बिना वीर्य रक्षा का उपदेश सुने जितेन्द्रिय रहता है। जिस व्यक्ति की किसी शक्ति विसर्जक साधना में रुचि न हो लेकिन उसमें आहार द्वारा काफी शक्ति संचित होने की व्यवस्था हो उसे उपदेशों के बल पर संयमी बनाना असम्भव है।

यदि कोई व्यक्ति हठ द्वारा ब्रह्मचर्य धारण करने का (यानी वीर्य का संचय करने का) प्रयत्न करता है तो उसे वीर्य के सामान्य वेग को रोकने के लिए आन्तरिक शक्ति व्यय करनी पड़ती है। यह भी एक मार्ग है अतिरिक्त शक्ति कम करके शरीर में अनुकूलन बनाए रखने का।

यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार के प्रयत्न द्वारा अमोघ वीर्य पालकर यह समझता है कि उसने शक्ति का संचय कर लिया है तो वह भूल कर रहा है। वीर्य रक्षा करना स्वयं एक साधना है जिसमें शक्ति क्षय होती है। इस साधना से साधक को 'चैम्पियनशिप' जैसा सम्मान भले ही मिल जाए लेकिन उसके अपने स्वास्थ्य के लिए या समाज के लिए उस ब्रह्मचर्य का कोई उपयोग नहीं होता। अपवाद के रूप में यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार का ब्रह्मचर्य धारण कर लेता है तो चिंतक के लिए चिंता की बात नहीं होती। रंगबिरंगे समाज में जहां महीनों व्यवधान रहित उपवास

करने वाले, लगातार हफ्तों साइकिल चलाने वाले, लम्बी दौड़ जीतने वाले तथा मनबर-तराकी का रेकाड तोडने वाले व्यक्ति हैं वहां किसी व्यक्ति का अमोघ-वीयवान बनना विशेष चिन्तनीय नहीं होता। ब्रह्मचय चितनीय तब बनता है जब देश काल, वातावरण और व्यक्ति के शरीर धम की आवश्यकता को समझे बिना, किसी व्यक्ति पर लाद दिया जाता है। ऐसा ब्रह्मचय पुरुष से पूण पुरुषों तथा स्त्रियों को मन मारने के लिए विवश करता है। ऐसा विवश किया गया व्यक्ति धम-ग्रथों म उपदेशों पर श्रद्धा रख कर यदि ब्रह्मचारी का बाना पहन भी लेता है तो उसे अपने शरीर स अन्याय करना पडता है। या उसे वीय विसजन के लिए बडे छुपे रास्ते तलाश करने पडते हैं। बाहरी आग्रह द्वारा लादे गये इस प्रकार के ब्रह्मचय से अनाचार को बढ़ावा मिलता है।

वातावरण की उपेक्षा करके यदि कोई व्यक्ति ब्रह्मचय-सम्बन्धी उपदेश देता है, तो वह व्यक्ति सतुलित नहीं समझा जा सकता। आज के व्यक्ति का ब्रह्मचारी रहना या न रहना बहुत कुछ वातावरण पर निभर है। समाज मे जहाँ यौन प्रेरणाएँ चारो ओर फली हुई हो, जो जाने या अजाने म तनाव का कारण बन सकती हो वहाँ व्यक्ति कहाँ तक देखे को अनदेखा कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति सामाजिक वातावरण से बचने के लिए जगल म जाकर वक्षो पहाडो और वनचरो का पडोसी बनना चाहता है तो भी वह समाज से भाग नहीं सकता। वहत समाज के साथ उसकी आवश्यकता कही न कही अवश्य जुडी रहती है। बहुत लम्बे अर्से तक समाज स दूर रहकर दूसरे शब्दो म—यौन प्रेरणाओ से दूर रहकर, जब कभी उसे समाज मे प्रवेश करना पडता है तो उसकी यौन लालसा के असामान्य रूप से उग्र होने की आशका रहती है। अधेरे कमरे के एक पुराने निवासी को अचानक भरी दुपहरी म अपने कमरे स बाहर आना पड जाए तो उसकी आँखें चुधिया जाती हैं वसे ही 'चकाचोध' जसे कष्ट की अनुभूति, विषम लिंगियो से भरे समाज मे एकाएक प्रवेश करने से एकांत वासी को हो सकती है।

आज के युग मे, कुछ पुरानी पुस्तको मे कथित, पुराने युग का सा वातावरण लाने का प्रयत्न करने वाले लोग भी है। वे नयी पीढ़ी को ब्रह्मचारी बनाने के लिए नगर से दूर निजन प्रदेशो मे शिक्षालय बनवाते है। ऐसा करके वे समझते हैं कि उन्होने नयी पीढी के वीय की रक्षा का प्रबन्ध कर लिया है। वे भ्रम म है। रेडियो अखबार, चित्र, पत्रिका

पुस्तक, विज्ञापन आदि के अस्तित्व के कारण, नागरिक जीवन से दूर पटका गया शिक्षार्थी समाज के सम्पर्क म रहता है। यदि उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बिलकुल निष्क्रिय नही हुई तो वह उनसे प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। यदि जागरण काल मे वह अपनी दृढ इच्छाशक्ति द्वारा खुद को यौन चिन्तन से बचाने का प्रयत्न करता है तो वह दबा हुआ चिन्तन स्वप्न काल मे उसे गीला कर देता है। इस गीलेपन से पूर्व होनेवाले तनाव मे उसकी अतिरिक्त शक्ति व्यय हो जाती है। यदि उसकी अतिरिक्त शक्ति स्वप्नकाल की अधूरी उत्तेजना में पूरे तौर स नही निचुड पाती, तो प्रात काल उस गीलपन के कारण होने वाले पश्चाताप के मार्ग द्वारा उसकी शेष अतिरिक्त शक्ति निकल जाती है। शरीर अपनी अतिरिक्त शक्ति के आय-व्यय का हिसाब बराबर साफ रखता है।

वीर्य का महत्त्व

पूर्व दिए गए विवरण से आशय संयम की गरिमा को कम करना या वीर्य के महत्त्व को नकारना नहीं है।

संयम यदि सहज हो और धारक के शरीर धर्म के अनुकूल हो तो वह लाभदायक होता है। यदि वह शरीर धर्म की अवहेलना करके ऊपर से थोपा जाता है तो वह संयम गरिमा पाने का अधिकारी नहीं रहता। वह हठ बन जाता है। हठ की प्रशंसा नहीं की जा सकती।

वीर्य का अपना महत्त्व है लेकिन उतना नहीं, जितना उसके व्युत्पत्तिक अर्थ से प्रकट होता है। वीर्य' का शाब्दिक अर्थ है—'वीरत्व'। वीर्य निकला मानो वीरता विदा हुई। एक तोला भर द्रव्य से वीरता का आशय क्या लिया जाने लगा इसकी कुछ चर्चा—'यौन सुख का उपसंहार' प्रकरण में हो चुकी है। अभी कुछ विवेचन बाकी है।

शारीरिक-संस्थान वीर्य आगमन को आराम करने के समय की घण्टी समझकर अपने आपको ढीला छोड़ देता है। फलत विसर्जक की आँखें मुंदने लगती हैं। शरीर शिथिल पड़ जाता है। यह शिथिलता उसे वीर्य दर्शन के उपरान्त महसूस होती है इसलिए वह वीर्य स्खलन को ही शिथिलता का कारण समझ बैठता है। हर बार के स्खलनोपरान्त जब वह हर

बार वसी क्षीणता अनुभव करता है,तो उसकी यह धारणा पक्की होती है कि वीर्य शक्ति का सार है। वह 'वीर्य' और 'वीरत्व' म कोई भेद नही देखता।

वीर्य नामी द्रव्य शक्ति का सार हो या न हो, लेकिन वह शक्ति के क्षय का विज्ञापन तो है ही। इस रूप मे उसका महत्त्व है। उसका दूसरा महत्त्व यह है कि वह पुरुष मुलभ कुछ ग्रन्थियो का रस है। उसका निकास तब होना सम्भव होता है जब शरीर की क्षरण क्षमताके अनुसार उत्तेजना के माग द्वारा शक्ति व्यय हो चुकती है।

यदि कोई व्यक्ति प्राक क्रीडाएँ तो कर ले और जब वीर्य का निष्कासन होने को हो तो अपना वीर्य स्तम्भित करके समझे कि उसने अपनी शक्ति बचा ली, तो वह भ्रम में है। क्योंकि शक्ति वीर्य निष्कासन से पूर्व उत्तेजना रूपी माग द्वारा व्यय हो चुकी होती है। शरीर के अनुकूलन धर्म के अनुसार उसे वीर्य निष्कासन की क्रिया हुए बिना भी शिथिलता का अनुभव होना चाहिए। यदि उस अवस्था म वह अपने आप मे कोई शिथिलता महसूस नही करता तो उसका कारण उसकी वातावरण जय इच्छा शक्ति है। यदि उस इच्छा शक्ति के कारण वह उस क्षण थकावट महसूस नही करता तो हलकी सी थकावट विघन रूप से उसके शरीर म रहती है। वह विघन थकावट प्रकटत उसकी दैनिक चर्या पर प्रभाव नही डालती लेकिन पुनरावृत्तियों के बाद जब कभी वह घनी हो जाती है तो दिनचर्या पर प्रभाव डालती है।

वीर्य स्खलन नर और नारी दोनो के लिए एक क्षणिक अवसर प्रस्तुत करता है कि वे उत्तेजना काल म व्यय हुई अपनी शक्ति हीनता का अहसास कर लें। उस अवसर पर यदि दोनों व्यक्ति पलकें मूद लेते हैं तो वे विश्रान्ति की गोद में पहुँच जाते हैं। यदि उनमे की एक इकाई नर, उत्तेजना के उच्चतम शिखर तक पहुँच कर अपना वीर्य स्तम्भित कर लेता है तो वह खुद को और अपनी सहयोगिनी को उस विश्रान्ति की गोद म पहुँचने से रोक देता है जो दोना को थपकी देकर फिर ताजा बना सकती है।

इस विवरण से आशय यह स्पष्ट करना है कि 'वीर्य' शक्ति नहा है। शक्ति वीर्य निष्कासन से पूर्व उत्तेजना के माग द्वारा व्यय हो चुकी होती है। यदि कोई व्यक्ति यौन माग द्वारा शक्ति क्षरित करने मे बचना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह यौनोत्तेजना स बचे। यौनोत्तेजना से बचना कहा तक व्यक्ति के अपने हाथ म है ? या इसे रोकना उपयोगी है या अनुपयोगी —इस विषय पर इस पुस्तक मे अनेक स्थान पर चर्चा हुई है।

चिन्तक की विवशता

लम्बे रोग से छुटकारा पा लेने के बाद यदि रोगी अपने चिकित्सक से पूछे— क्या अब मैं नहाऊं ? और चिकित्सक कहे—'चाहो तो नहा सकते हो।' तो रोगी इस सलाह का आशय जो चाहे समझ सकता है। नहाना यदि उसकी रुचि के प्रतिकूल है तो वह इस परामर्श का अर्थ यह समझता है— अच्छा तो यही है कि मत नहाओ। यदि जिद करते हो तो बेशक नहा लो। स्नान जिसके लिए रुचिकर है वह इस सलाह का अर्थ यह लगाता है— अब अवसर आ गया है जब तुम नहा सकते हो।

सामान्य-व्यक्ति किसी भी परामर्श या आदेश का ज्यों-का-त्यों पालन नहीं करता अपितु अपनी रुचि के अनुसार उसमें परिवर्तन कर लेता है। यही कारण है कि आचार-संहिताएं या धर्म ग्रन्थ उपयुक्त चिकित्सक की सलाह जैसे ढील-ढाल आदेश या परामर्श नहीं देते बल्कि वे दो टूक नियम सुनाते हैं—'अवश्य नहाओ या बिलकुल मत नहाओ।' इन ग्रन्थों या संहिताओं के रचेता यह भी जानते हैं कि दो टूक लहजे में दिया गया छोटा सा आदेश भी सामान्य व्यक्ति को तभी याद रहता है, यदि वह उसकी रुचि के अनुकूल हो। अन्यथा वह उसे अनसुना कर देता है। उसकी इस आदत को

जानने वाले वे रचेता ग्राह्य के लाभ और अग्राह्य की हानियाँ बढा कर कहते हैं। वह इसलिए कि माल भाव की प्रवृत्ति रखने वाला मानव यदि उस आदेश को पूरा न मान कर उसे आंशिक रूप में ही मान ले, तो भी काम चलाऊ मान्यता हो जाए। मानव की इस आदत को समझने वाले पुराने जमाने के संहिताकारों ने उच्छृंखलता के प्रतिकार के लिए अति संयम के नियम लागू किए। इहलोक के लिए स्वास्थ्य-सम्बन्धी पुस्तकों में और परलोक के लिए धर्म ग्रन्थों में संयम के असंख्य लाभ बताए गये। उस दुहरे प्रचार का परिणाम यह हुआ कि 'काम' एक निंद्य मनोविकार समझा जाने लगा। शरीर की अनिवार्य माँग के कारण कोई भी स्वस्थ-व्यक्ति यौन चिन्तन से छुटकारा तो न पा सकता किन्तु अपनी तथाकथित-कलुषित काम भावना के कारण वह अपने आपको अपराधी अवश्य समझता।

अति-संयम सम्बन्धी ये नियम यौन-स्वेच्छाचार की अति को कम करने के लिए किसी युग में लागू किये गये थे किन्तु उन नियमों को लागू करने वाले चिन्तकों ने यह अवधि निश्चित नहीं की थी कि वे नियम कौन-सी स्थिति के आने तक के लिए मान्य होंगे और किस स्थिति के आने पर अमान्य समझ लिए जाएँगे।

नियमों की मान्यता की अवधि निश्चित न होने के कारण, परवर्ती चिन्तकों के लिए परेशानी पैदा होती है। वह यूँ कि कुछ दिन, कुछ वर्ष या कुछ शताब्दियाँ बीतने के बाद वह स्थिति आ जाती है जिस स्थिति को लाने के लिए किसी युग में संहिता के आदेश बने थे। उस समय नियमों भरी संहिता की रचना का ध्येय पूरा हो जाता है। चाहिए तो यह कि वह संहिता धरती में गाड़ दी जाए या उसे 'पुरातत्व' का अंग समझ कर सजा कर रखा जाए। लेकिन होता इससे विपरीत है। सामयिक आवश्यकता के लिए बनाए गए नियमों की संहिता धर्म ग्रन्थ का दर्जा पा चुकी होती है। वह दबाई नहीं जा सकती बल्कि अत्यन्त समर्थ अनुगामियों के दल का नेतृत्व करने वाली बन जाती है। पुरानी संहिता के प्रभाव के कारण यदि समाज का कोई भाग संतुलित हो चुका हो तो भी वह अपने अनुगामियों को रुकने नहीं देती आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा देती रहती है। फलस्वरूप समाज अ-सन्तुलन के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है। समाज रूपी तराजू के साथ हमेशा से ऐसा होता आया है। इसके दोनों पलड़े संतुलित अवस्था में कभी नहीं देखे जाते।

चिन्तक की एक विवशता और भी है कि वह निर्णायक रूप से नहीं कह

सकता कि पूरा समाज किस क्षण सन्तुलित हो गया। यह इसलिए कि समाज कई धर्मों कई देशों कई राष्ट्रों और कई जातियों में बँटा हुआ है। एक भूभाग में रहने वाले, एक धर्म के अनुयायी यदि अपने आप को सन्तुलित बना लेते हैं तो उसी भूभाग के अन्य धर्मों के अनुयायी, जरूरी नहीं कि उन सन्तुलितों का ही अनुगमन करें। उनके अपने धर्म ग्रन्थ होते हैं, उनकी अपनी मान्यताएं होती हैं। वे वास्तविक स्थिति को न समझ कर अपनी मान्यताओं के अनुसार काम करते हैं। इससे विश्व-समाज में एकरूपता नहीं आती और वह क्षण कभी पकड़ में नहीं आता, जिस क्षण वह कह सके कि पूरा समाज सन्तुलित हो गया है।

०

वीर्यनाश-अभियान

अति-संयम के प्रतिष्ठाकाल में, जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी काम चेष्टाओं के कारण अपने आपको अस्वस्थ या गुनहगार समझने लगा वीर्य क्षरण के रूप में होने वाली शक्ति की क्षति पूर्ति के लिए हकीमों के दर पर और उससे होने वाले पाप के प्रतिकार के लिए पुरोहितों के द्वार पर जाना जब प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य बन गया तो उस अति-संयम का प्रभाव नष्ट करने के लिए नये विचारक की आवश्यकता महसूस की जाने लगी।

नये विचारक आए। उन्होंने यह शंखनाद किया—

'यौन प्रवृत्ति हमारी सहज प्रवृत्ति है। इस पर रोक लगाना स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास में बाधा डालना है।'

यह नाद अति-संयमवाद की प्रतिक्रिया का फल था। उसका वास्तविक उद्देश्य सामान्य व्यक्ति को वीर्यनाश के बाद के पश्चाताप की उस स्थिति से निकालना था, जो स्थिति ब्रह्मचर्यवादियों एवं तथाकथित गुप्तरोग-विशेषज्ञों ने कायम की थी। जैसे कि इसी प्रकरण में इससे पहले एक जगह कहा गया है कि सामान्य व्यक्ति किसी दो टूक निर्णय प्रकट करने वाले

नियम पर अपना ध्यान टिका सकता है। नये विचारकों ने भी मानव की इस आदत को समझा और महसूस कर लिया कि प्रतिमयम या निलिरम तोडने के लिए सामान्य उक्ति काफी नहीं है। सो सयम का विरोध करने के लिए यौन प्रवत्ति को सहज प्रवृत्ति प्रकट किया गया। उस सहज को अति-सहज सिद्ध करने के लिए अतिशयोक्ति का सहारा लिया गया। लेकिन बाद म हुआ यह कि इस नये वाद के अनुयायी उस अतिशयोक्ति अलकार को परम सत्य मान कर उसके आधार पर अपने उप नियम प्रचारित करने लगे।

पुराने युग का सयमवादी मानव रुचि का विरोध कर रहा था नये युग का सहज प्रवृत्तिवादी उपदेक मानव रुचि के अनुकूल बोल रहा था। जिसका फल यह हुआ कि सयम की प्रतिष्ठा स्थापित करने म पुराने लोगो को जितना समय देना पडा, जितना परिश्रम करना पडा, उससे कम समय और कम परिश्रम से यह नयावाद प्रचलित हो गया।

अवसरवादी हर अवसर का लाभ उठाया करते हैं। 'अति-सयम के दौर मे वे अवसरवादी स्वप्नदोष और प्रमेह की दवाइया बनाकर लोक सेवा का नाटय करते थे नये युग के अवसरवादी दूसरे रूप म सामने आए। उन्होने सहज मानी जा चुकी यौन प्रवत्ति को अधिक सहज बनाने के लिए अपनी सेवाएँ अर्पित करदी। उनम से कोई तथाकथित सास्कृतिक कार्यक्रम का अधिष्ठाता बन कर शृगार रस के नाच गानो का प्रचारित करने की सेवा करने लगा किसी ने नग्न चित्रकारी या नग्न फोटो ग्राफी को कला के रूप म प्रचारित करना आरम्भ कर दिया किसी ने पार दशक वस्त्र बनाने का कारखाना खोल लिया किसी ने नाईट क्लब चालू कर दिया और किसी ने धूप स्नान के नाम पर लोगो को खुले आम नग्न होने के लिए प्रोत्साहन देना आरम्भ कर दिया। ये सब तथाकथित परहित चिंतक काम के आवेग से कुठित व्यक्ति को कुण्ठामुक्त करने के लिए अपना योग दे रहे थे। लोक लाज से त्रस्त व्यक्ति को आश्वासन देने का इनका लहजा कुछ इस किस्म का होता था—

> तुम समाज के भय से यौन सम्बन्धी खेल खेलते घबडाते हो? तुम्हारी यह घबडाहट तुम्ह मानसिक रूप से अस्वस्थ बना रही है। घबडाने को कोई आवश्यकता नही। मैं तुम्हारे यौनाभ्यास के लिए निरापद स्थान का प्रबन्ध करने के लिए आतुर हूँ। तुम मेरे क्लब के सदस्य बन जाओ। यदि तुम वहा भी अपनी पहचान के किसी

व्यक्ति से कतराना चाहो तो परवाह न करो, मैं कुछ क्षण के लिए क्लब की बत्तिया बुझा कर तुम्हें खुल-खेलने का मौका दूगा। इसके बदले तुम मुझे अपनी आय का कुछ अश दे दिया करना और मेरे लिए अशदाता बढाते रहना।

"अशदाता बढाते रहने म भी मेरा नहीं, तुम्हारा ही लाभ है। जब मेरा क्लब आर्थिक रूप से सम्पन्न हो जायेगा तो वह वकीलो की बहुमूल्य सेवाएँ खरीद कर कानून की नजरो मे तुम्हारे अवैध यौन सम्बन्ध का वध सिद्ध कर देगा। तुम इसे असम्भव मत समझो। तुम्हें पता नहीं कि कानून के रक्षक भी तुम्हारी तरह ही कमजोरियो के शिकार हैं। वे खुद सहज प्रवृत्ति को और सहज बनाना चाहते हैं। मेरे प्रयत्न करने की देर है, वे हा में हा मिला देंगे। फिर तुम बत्तिया जला कर वह सब कुछ कर सकोगे, जो अधेरा होने पर अब किया करते हो। बल्कि यह सब कुछ तुम नदियो के तट पर और सार्वजनिक उद्यानो म भी कर सकोगे।

"यदि तुम यौनाभ्यास कर-करके अपनी उत्तेजनशीलता का ह्रास कर चुके हो तो भी चिन्ता की बात नहीं। मेरे पास उत्तेजक दवाएँ हैं, नंगे नाच हैं, उद्दीपक एलबम और फिल्म हैं। ये सब इतने सक्षम हैं कि बर्फ मे भी आग पैदा कर दें।

"यदि तुम होठो और कपोलो की रक्तिम आभा के गायब होने के कारण परेशान हो तो मेरे पास इसका भी इलाज है। यदि तुम्हारे कधे, कमर, छाती और नितम्ब वाछित नाप के नहीं हैं तो उन्हें इच्छानुसार घटाने-बढाने के साधन भी मेरे पास हैं। ये सब तुम्हारे लिए सहर्ष और सविनय प्रस्तुत हैं।"

यह सब कहते हुए, उन तथाकथित लोक सेवको का लहजा मिशनरियो के लहजे सा बन जाता था। उनके बहुमुखी प्रयत्नो का फल यह हुआ है कि आज का इस नये वाद का अनुगामी खुले आम यह कहने, लिखने और छापने से नहीं हिचकिचाता कि वीर्य से पिंड छुडा कर मैंने क्या पाया या अपने दाहिने हाथ को अपनी पत्नी बनाकर मैं कितने लाभ म रहा। प्रगति की वर्तमान गति देखकर यह कल्पना सहज ही मे की जा सकती है कि आज की पीढ़ी पाया, कल का चिकित्सक अपने रोगियों को यह सलाह देना प्राकृतिक चिकित्सा के एन मुताबिक समझेगा—

"यदि तुम भावी यौन विकृतियो से मुक्त होना चाहते हो तो हर

अमुक घण्ट बाद किसी-न किसी माध्यम से अपनी बीय प्रणाली खाली कर दिया करो।"

यह सब देखते हुए लगता है कि शायद अब वह समय फिर आ गया है, जब यौन प्रवृत्ति से सम्बन्धित आधुनिक समझी जाने वाली मान्यताओं पर पुनर्विचार किया जाए और प्रगति हो चुकने के बाद प्रगति के लिए बढ़ते हुए चरणों को रोका जाए। यदि अब भी इन्हें न रोका गया तो प्रगति अधोगति बन जाएगी।

o

प्रकरण—८

पुरुष-सत्तात्मक-समाज में नारी की स्थिति

नारी पुरुष की नजर मे

'आसक्त-पुरुषो के देखने योग्य कौन-सी वस्तु है ?
मृगनयनी का प्रेम से प्रसन्न मुख।
सूघने योग्य कौन-सी उत्तम वस्तु है ?
उनके मुख की भाप।
सुनने योग्य कौन-सी वस्तु है ?
उनका मधुर वचन।
स्वादिष्ट वस्तु कौन-सी है ?
उनके अधर-पल्लव का रस।
स्पर्श करने योग्य कौन-सी वस्तु है ?
उनका शरीर।
ध्यान करने योग्य कौन-सी वस्तु है ?
उनका यौवन और विलास।'[1]

यह रचना भर्तृहरि की है। वही भर्तृहरि, जो 'शृगार शतक' मे

---

१ भर्तृहरि कृत "शृगारशतक ॥७॥

नारी की प्रशंसा करते नहीं अघाए, 'वैराग्य शतक' में नारी की चर्चा इन शब्दों में करते हैं—

> 'स्त्रियों के स्तन मांस के लोथड़े हैं, पर कवि उन्हें कलश के समान बताते हैं। उनका मुख कफ का घर है कवियों ने उसकी उपमा चन्द्रमा से दी है। उनकी जाँघें मूत्र टपकने से अपवित्र होती रहती हैं, लेकिन कवि उन्हें हाथी की सूँड के समान कहते हैं। स्त्रियों के इस घृणित रूप को कवियों ने कैसी बढ़ा चढ़ा कर प्रशंसा की है!'[1]

शृंगार प्रसंग में पुरुष को जो नारी ब्रह्मा की अनुपम सृष्टि लग रही होती है, वैराग्य प्रसंग में उसी नारी को अधम अपवित्र कहकर उसे पुरुष के लिए वर्जित वस्तुओं की सूची में पहला स्थान दिया जाता है।

चूंकि समाज पुरुष सत्तात्मक है, इसलिए नारी के बारे में केवल पुरुष का दृष्टिकोण प्रचारित हो पाता है। यदि वह अपने साध्य की प्राप्ति में नारी को रोड़ा समझता है तो वह उसकी निंदा करने में ज़मीन आसमान एक कर देता है। यदि वह नारी की इच्छाओं को नहीं समझ पाता, तो वह उसे पहेली मान लेता है और यदि वह नारी के बिना नहीं रह सकता तो खुद को कमज़ोर कहने के बजाय नारी को ही पुरुष की कमज़ोरी घोषित करके अपने आपको बचा जाता है।

यदि समाज स्त्री-सत्तात्मक होता, तो नारी की कमज़ोरी पुरुष माना जाता। ऐसी कई तपस्विनियों की कहानियाँ प्रचलित होतीं, जो पुरुष के मोहजाल में फँस कर पथ भ्रष्ट हो चुकी होतीं। पुरुष को सृष्टि की अनुपम रचना मानकर उसके नख शिख वर्णन इतने गुने शब्दों में किया जाता कि पुरुष उसे पढ़ सुन कर लजा जाता।

वस्तुतः पुरुष-सत्तात्मक-समाज में रहते हुए स्त्री-सत्तात्मक समाज की ठीक-ठीक कल्पना की भी नहीं जा सकती। उल्टी गंगा[2] जैसी फिल्मों और सुदान्त साम्राज्ञी[3] जैसे उपन्यासों के माध्यम से स्त्री सत्तात्मक समाज का काल्पनिक चित्रण यदि प्रस्तुत किया भी जाता है तो उसका ध्येय नारी-सत्ता के काल्पनिक-युग को निकृष्ट सिद्ध करके पुरुष-सत्तात्मक समाज की उत्कृष्टता को प्रकट करना होता है।

---

1 भर्तृहरि कृत "वैराग्य शतक" ॥२०॥

2 'मिनर्वा मूवीटोन' द्वारा निर्मित एक हिन्दी फिल्म जिसमें काल्पनिक स्त्री सत्तात्मक-समाज पर व्यंग्य किया गया था।

3 [illegible]
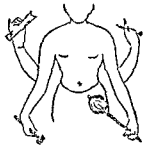
पुरुष सत्ता के कारण

विश्व के कुछ भागों म अब भी नारी-सत्तात्मक समाज है लेकिन नाल विश्व का सभ्य समझा जाने वाला बडा समाज पुरुष सत्तात्मक है। पुरुष सत्तात्मक समाज के अधिक प्रचलित होने के कारणों पर यहा विचार करना है।

प्रजनन के मामले म पुरुष की जिम्मेवारी उस समय खत्म हो जाती है जिस समय वह अपना शुक्राणु नारी के हवाले कर देता है। नारी की जिम्मेवारी उस समय से शुरु हो जाती है।

जब पुरुषाणु नारी म नही भी पल रहा होता, तो भी मासिक धर्म के रूप मे नारी के शरीर से अतिरिक्त द्रव्य के निकलने की व्यवस्था रहती हैं। यह नारी की विवशता है। उसकी यह विवशता उसका सम्पर्क बाह्य ससार से घटा कर उसे घर म सीमित कर देती है। फलस्वरूप पुरुष का सम्पर्क घर से बाहर के ससार से बढ जाता है।

विशाल बाह्य क्षेत्र के सम्पर्क मे रहने के कारण पुरुष को ज्ञान विज्ञान की नयी जानकारी मिलती रहती है जिससे वह समर्थ से समर्थतर होता जाता है। नारी घर से बाहर के ससार से कट कर असमर्थ बन जाती है। बाहरी ससार से उसका सम्पर्क केवल पुरुष के माध्यम से रह जाता है।

इस प्रकार वह पुरुष पर अधिकाधिक निर्भर होती जाती है।

पुरुष नारी की इस विवशता का लाभ उठाता है। उसके स्वार्थ के लिए यह अनुकूल होता है कि नारी कूपमण्डूक की तरह घर में बन्द रहे और उसके उपभोग की वस्तु बनी रहे। उसकी इच्छाओं की पूर्ति में बाधा डालने योग्य स्थिति में न आ सके।

ज्ञान-स्रोतों पर पुरुष का एकाधिकार रहा है। अपनी स्थिति को स्वच्छन्द बनाए रखने के लिए पूर्वकाल से पुरुष ने उनका सहारा लिया। साहित्य और धर्म-कथाओं के माध्यम से वह अपने आपको नारी से श्रेष्ठ सिद्ध करता रहा। उन बहुमुखी प्रयत्नों का फल पुरुष की वांछा के अनुसार निकला। सीमित घेरे के भीतर रहने वाली नारी पुरुष रचित-प्रथा के प्रभाव के कारण स्त्री-योनि को खोटा और पुरुष योनि को उत्तम मानने लगी।

नारी शिक्षा के प्रसार के कारण आज की नारी यह जान गई है कि उसकी हीन अवस्था का कारण, उसका घर में बन्द रहकर पुरुष पर निर्भर होना है। यह जानकर उसने अपना कार्य क्षेत्र घर के भीतर सीमित नहीं रहने दिया। घर से बाहर के वातावरण में पुरुषवत कार्य करके वह खुद को आर्थिक रूप से आत्म निर्भर बनाने लगी है। लेकिन उस दशा में भी प्रजनन का काम हर हालत में उसे ही करना होता है। इस काम को वह पुरुष के जिम्मे नहीं लगा सकती। गोया जीविकोपार्जन का पुरुष योग्य काम करती रहने के बावजूद नारी योग्य काम—जैसे ऋतुमती या गर्भवती होना, गर्भकाल व्यतीत करने पर प्रसूता बनना, प्रसवोपरान्त शिशु को दूध पिलाना आदि उसके जिम्मे फिर भी रहते हैं।

गर्भ निरोध के उपाय ज्ञात होने के बाद मैथुन और प्रजनन की अलग अलग सीमाएँ निश्चित् हो चुकी हैं, लेकिन प्रजनन की जरूरत बिल्कुल खत्म नहीं हुई। प्रजनन की वांछा पुरुष या नारी को जब भी होती है वह कार्य करना नारी को पड़ता है। इसलिए एक सीमित काल के लिए उसका सम्पर्क बाहरी दुनिया से कट जाता है।

समतावादी राष्ट्रों ने नारी की आर्थिक परतन्त्रता को स्वतन्त्रता के रूप में बदलने के प्रयत्न किये हैं। प्रजनन क्रिया को कम कष्टकर बनाकर और धात्री कर्म तथा गृहणी कर्म शासन के जिम्मे लगा कर उन्होंने नारी को आर्थिक रूप से स्वतन्त्र बनाने की चेष्टा की है, लेकिन नारी के लिए ये सुविधाएं जुटाने वाला पुरुष है अतः उसका यह दाता रूप किसी न किसी रूप में नारी पर अब भी हावी होता रहता है।

नारी-पराभव मे साहित्य की भूमिका

नर और नारी दानो की रचना की बुनियाद एक ही क्रिया, यौन समागम है। नर हा या नारी दोना एक ही गर्भाशय म पलने है और एक ही माग स होकर गभाशय से बाह्य समार में प्रवश करते है लेकिन समान ढग से उत्पन्न हुए, एक ही योनि के इन दो जीवा के अधिकार जुदा जुदा हैं। उभरे हुए यौनाग का शिशु पदा हाते ही परिवार म उल्लास छा जाता है, धँसी हुई यौन प्रणाली दख कर घर भर म विषाद व्याप्त हो जाता है। यौनाग रचना के मामूली से भेद के कारण एक मोक्ष का अधिकारी समझ लिया जाता है दूसरी नरक की खान मानी जाती है। एक सवित और दूसरी सविका फिर ताज्जुब यह है कि औसत नारी का अपने आपका नरक की खान और सविका मानने पर कोई आपत्ति भी नही होती।

जैसा कि इसी प्रकरण म पहले कहा गया है कि ज्ञान के सभी स्रोता, साहित्य की सभी विधाओ पर पुरुष का एकाधिकार रहा है अत पुरुष का रचा हुआ सारा साहित्य पुरुष क दृष्टिकोण को सर्वोपरि प्रकट करने म योग देता रहा है। उस दृष्टिकोण की बानगी दखने क लिए दूर जाने की जरूरत नही, इसी पुस्तक क शापक यौन-व्यवहार अनुशीलन के एक शब्द

'योन' पर ही गौर कर लीजिए।

'यौन का शाब्दिक अथ है 'योनि सम्बन्धी या योनि का', लेकिन इसका जो अथ आज लगाया जाता है वह इसके व्युत्पत्तिक अथ स अधिक व्यापक है। यौन विचार -ापक में अन्तगत मात्र नारी-जननेन्द्रिया की चर्चा नहीं आती, पुरुष जननेन्द्रिया का विचार भी उसी शीषक के अन्तगत आ जाता है।

इस शब्द के व्यापक अर्थों क लिए प्रचलित होने का कारण यह है कि भाषा विज्ञान, व्याकरण और काम विज्ञान पर पुरुष का अधिकार रहा है। काम-तरंगो को नापने वाला पुरुष है और पुरुष के सुख का साधन नारी है। नारी अवयव 'योनि' म उसकी विशेष आसक्ति होती है, अत वह 'यौन शब्द' को काम के पर्याय के तौर पर प्रयुक्त करता रहा है। और यह शब्द काम के पर्याय क तौर पर इतना अधिक प्रयुक्त हो चुका है कि लोग इसके व्युत्पत्तिक अथ को भूल से गये हैं।

धम ग्रन्थो का प्रणेता पुरुष रहा है। उसने पुरुष को पुण्या का फल देने के लिए सुदर अप्सराओं से भरे स्वग की कल्पना प्रचारित की है लेकिन यह कहीं नहीं लिखा कि अपने पुण्य प्रताप से यदि नारी स्वग म प्रवेश कर तो उसे अपनी पसन्द के अनुरूप 'अप्सरा का पर्याय 'काम्य-पुरुष' भी मिलेगा या नहीं। अलबत्ता पाप फल के लिए नारी के लिए नारकीय-यातनाओं का जिक्र धम ग्रन्था म काफी हुआ है।

साहित्य म कदम कदम पर पुरुष की उच्च स्थिति प्रतिष्ठित की गयी है। अनुसूया सीता को पतिव्रत धम का जो उपदेश देती है[१], वह उपदेश पुरुष का रचा हुआ है, अनुसूया के मुख से निकलवाया गया है।

जो बात धम-ग्रन्था और पुराण-कथाओ म वर्णित है, कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास तथा समाज विज्ञान म लिखी है, जिसे बडे बूढे लोग कहते हैं, सीता सावित्री सुकन्या आदि जिसे मानती रही हैं उस बात पर सामान्य स्त्री कसे यकीन न कर? और तो और उसका अपना पिता, जिसने उसे प्यार और दुलार स पाल पोस कर बडा किया है, उसे ससुराल के लिए विदा करते समय यह कहता है—'तुम्हारा पति तुम्हारा देवता है यदि वह चोर है जुआरी है, लम्पट है, व्यभिचारी है फिर भी तुम्हारा देवता

---

१ सहज अपावन नारि पति सेवहिं शुभ गति लहई।
—रामचरितमानस ॥ अरण्य काण्ड ॥

है। उसकी खुशी मे तुम्हारी खुशी है। उसकी चिन्ता तुम्हारी चिन्ता है। तुम पति के लिए हो, पति तुम्हारे लिए नहीं है।"

इस प्रकार प्रथा और महावता के प्रभाव के कारण नारी का स्वतन्त्र चिंतन नष्ट हो जाता है। एक लोक कथा के पाँच ठग मिलकर, अगर किसी भोले ब्राह्मण की बछिया का पागल-कुत्ता कह कर हथिया सकते हैं, तो नारी को ठगने के लिए इतिहास के सहस्रों मयावी पुरुषों द्वारा रचे प्रपंचों के फेर मे पड कर यदि नारी ठगी जाती है तो यह आश्चर्य की बात नहीं? यदि वह पति के शव के साथ हँसते-हँसते चिता म जल जाती रही है या वैधव्य को कर्मों का फल समझ कर स्वीकार कर लेती है या अपनी तीन तीन सौतों को खुदा की मर्जी समझ कर मान लेती है और इस पर भी पति का हित चिंतन करती रहती है, तो यह उसका त्याग नहीं है, यह उस प्रचार का फल है जो पुरुष ने आदिकाल से शुरु किया हुआ है।

पुरुष सत्ता की श्रेष्ठता के विचार को पुष्ट करने मे चिकित्सा शास्त्र भी पीछे नही रहा। वह शास्त्र कहता है 'विवाह योग्य जोडे म वर की आयु वधु से अधिक हो" यह कथन वस्तुत पुरुष सत्ता को बनाए रखने का एक उपाय है। अपने इस कथन को विज्ञान-सम्मत प्रकट करने के लिए चिकित्सा शास्त्र का कहना है—'किशोरी चौदह पन्द्रह वष की आयु म यौनदृष्टि से जितनी परिपक्व होती है किशोर मैं वह परिपक्वता सत्रह अठारह वष मे आती है।' इस प्रकट कथन के पीछे जो वास्तविक आशय है उसे निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं —

१ पति यदि अपनी पत्नी से कम उम्र का होगा तो वह पत्नी की श्रद्धा न पा सकेगा। समाज मे यह धारणा पहले से प्रचलित है कि जो पहले पैदा हुआ है, वह निश्चय ही अधिक बुद्धिमान है और आदर का पात्र है।

आधुनिक मनोविज्ञान बकवास मानता है कि अधिक आयु अधिक बुद्धिमान होने की कोई शत नही है। लेकिन यह मान्यता कुछ विद्वानो तक ही सीमित है। लोक धारणा यही है कि अधिक उम्र का व्यक्ति कम उम्र के व्यक्ति की अपेक्षा अधिक अनुभवी यानी अधिक बुद्धिमान होता है। पति यदि पत्नी से अधिक उम्र का होगा, तो पत्नी को उसे अपने से अधिक बुद्धिमान और आदरणीय मानना होगा। इससे पति का पत्नी पर रोब रहेगा। यदि पति पत्नी से कम आयु का होगा तो उसे पत्नी को आदरणीय तथा विदुषी मानना होगा। पुरुष सत्ता की दृष्टि से वह स्थिति वाछित नही है। उस अवाछित स्थिति

की सम्भावना समाप्त करने के लिए पति पत्नी की आयु का यह भेद चिकित्सा शास्त्र द्वारा प्रतिष्ठित किया गया है।

२ समाज की प्रचलित धारणा के अनुसार पत्नी उपभोग की वस्तु है और पति उपभोक्ता है। पति अपनी पत्नी का मनमाना उपभोग उसी दशा मे कर सकता है, यदि वह स्वावलम्बी हो और पत्नी तथा उसस उत्पन्न सतान का भरण पोषण करने के योग्य हो।

किशोर म वीय उत्पन्न हा जाए और उस वीय मे प्रजनन की सामथ्य भी हो ता भी वह अठारह बीस वष की आयु तक अपरिपक्व यानी विवाह अयोग्य समझा जाता है, लकिन किशोरी प्रथम रजो दशन के दो-तीन वष बाद चौदह पद्रह वष की आयु म ही परिपक्व यानी विवाह योग्य समझ ली जाती है। हालांकि उसका प्रथम रजोदशन काल और किशोर का वीय उत्पत्तिकाल लगभग एक ही होता है। किशोर को महज इसलिए देर स परिपक्व माना जाता है कि वह भर्ता बनने के योग्य हो सके। लडकी को इसलिए जल्दी परिपक्व मान लिया जाता रहा है क्योंकि उससे भर्ता की बजाय 'भ्रता होने का गुण अपक्षित होता है। यदि वह अपने आप को परिपक्व नही भी समझती तो वातावरण तथा उसकी सहेलिया उसम काम-सम्बन्धी जिज्ञासा पदा करके, उसकी युव सुलभ ग्रन्थियो को समय से पूव क्रियाशील बना दती है। इससे उसके युव सुलभ नारी अगो का विकास भी तेजी से होने लगता है और समाज समझता है कि लडकी जवान हो गयी है। जो बात समाज समझता है उसे लडकी भी समझने लगती है।

कुछ राष्ट्रा म नारी आर्थिक रूप से स्वावलम्बी हो चुकी है लेकिन चिकित्सा शास्त्र द्वारा प्रचलित परिपक्वता सम्बन्धी धारणाओ की जडें समाज मे इतनी गहरी जम चुकी कि उन राष्ट्रो म भी अठारह वष की लडकी के साथ १६ वष के लडके का विवाह जँचता नही। दूसरी ओर १८ वष का आर्थिक रूप स परावलम्बी लडक और १६ वष की आर्थिक रूप स स्वावलम्बी लडकी का विवाहित जोडा जँच जाता है।

३ परिपक्वता सम्बन्धी इस धारणा का पुष्ट करन म पुरुष का एक स्वाथ यह भी है कि वह नहीं चाहता कि उसक बूढे हान से पहल उसकी पत्नी बुढिया बन जाए। उसके रसिक स्वभाव का यह तकाजा है कि उस अपने स कम आयु की नयी नवेली पत्नी पाने का सामाजिक अधिकार

मिलता रहे। वह खुद चाहे आयु के आखिरी पेटे म से गुज़र रहा हो, पत्नी हमेशा उत्तेजक यानी जवान चाहता है।

अपनी इस चाह को शास्त्र सम्मत सिद्ध करने के लिए कभी वह धर्म-ग्रन्था से अपनी इस इच्छा का अनुमोदन कराता है और कभी चिकित्सा-शास्त्र का उद्धरण देता है।

●

पहले के युग की नारी की अपेक्षा आज की नारी अपने आपको अधिक स्वतंत्र समझती है। वह देखती है कि जब वह किसी सार्वजनिक स्थान पर जाती है तो पुरुष उसे सीट देने के लिए खुद खड़ा हो जाता है। पुरुष के इस प्रकार के कुछ व्यवहारों को देखकर वह अपने आपको माननीय समझने लगती है और खुद को इस स्थिति में मानने लगी है कि वह पुराने युग की उस नारी की विवशता पर तरस खाए जो पति को परमेश्वर मानती थी। विवाह से पूर्व अच्छा पति पाने के लिए तपस्या करती थी। विवाह होने पर जो भी पति मिल जाता था उसे ही जन्म जन्मान्तर का पति जानकर उसी के चरण दबाया करती थी। पति उसका सर्वस्व होता था। उसकी विमुखता से बचने के लिए वह वशीकरण के उपाय मंत्र टोटके आदि का सहारा लेती थी। लेकिन पुराने युग की उस नारी पर तरस खाने वाली आज की नारी खुद क्या करती है? वशीकरण के उपाय वह खुद भी कम नहीं बरत रही है। कमर, नितम्ब, छाती और एड़ियों के वांछित नाप की रक्षा के लिए वह अपने आपको जितनी यातना देती है, वह यातना वशीकरण के अन्य किसी अनुष्ठान से मिलने वाले कष्ट से कम नहीं होती। सिर के जूड़े की रक्षा के लिए सोते समय वह गर्दन सख्त किस्म के तकिया पर टिकाती है। चेहरे की रमणीयता बढ़ाने के लिए वह प्लास्टिक सर्जन का द्वार खटखटाती है। कमनीय बनने के लिए अल्पाहार की शरण लेती है। यह सब देखकर लगता है कि वह वास्तव में स्वतंत्र नहीं हुई। पहले वक्त की नारी और आज की नारी के व्यवहार में अन्तर यह पड़ा है कि पहले उसे केवल एक पुरुष अपने पति को लुभाना पड़ता था अब उसे सार्वजनिक रूप से लुभावनी बनना पड़ता है। पहले वह दरबारों में कुछ राजा-नवाबों, सामंतों या मुसाहबों के सामने नाचती थी नग्न होती थी। नये युग में वह नारी माडल बनकर चित्रकार और छायाकार के सामने अपने आपको उघार देती है। सत्ता के विकेन्द्रीयकरण ने छापेखाने और फिल्मों के आविष्कार ने उस नग्नता को सार्वजनिक बना दिया है। नारी का लुभावनापन अब एक बाकायदा उद्योग धन्धा बन गया है। यह सब देखते हुए भी नारी यदि अपने आपको स्वतंत्र समझती है तो उसकी भूल है। देखा जाए तो वह स्वतंत्र नहीं हुई बल्कि पुरुष की पसंद के अनुरूप ढल गयी है।

आज की नारी यदि पुरुष के साथ कन्धे-से-कन्धा मिलाकर चलती है तो इसलिए कि नारी को अपने समकक्ष चलाना पुरुष को भला लगता

है। वह उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही है इसलिए कि आज का पुरुष अशिक्षित नारी को अपना जीवन साथी बनाने को तयार नहीं है। वह पर्दे से निकल आयी है इसलिए कि बेपर्दा नारी पुरुष को अच्छी लगती है। जिस देश जिस काल का पुरुष नारी को जिस रूप में देखना चाहता है, नारी वही रूप अपना लेती है। पूर्व की नारी पूर्व के पुरुष की पसन्द के अनुसार जीवन व्यतीत करती है, पश्चिम की पश्चिम के पुरुष की पसन्द के अनुसार।

o

रूप-जीवी शरीर-जीवी

कोई सी महिलोपयोगी पत्रिका उठाइए। उसमें खाने पकाने और घर सजाने के तरीके चाहे बताए गए हों या नहीं लेकिन उसमें नारी को आकर्षक बनाने के उपाय अवश्य लिखे होते हैं। यह इसलिए कि आकर्षण ही नारी का सबसे बड़ा हथियार है।

इस हथियार की आवश्यकता नारी को कदम-कदम पर महसूस होती है। आर्थिक रूप से स्वावलम्बी बनने के लिए यदि वह नौकरी पाने की चेष्टा करती है तो उसका नौकरीदाता उसके अन्य गुणों की अपेक्षा उसके रूप की परख अधिक करता है।

नर्स, अध्यापिका, सेक्रेटरी या टाइपकार बन कर पूरा महीना परिश्रम करके वह जो कुछ पाती है किसी साधन-सम्पन्न पुरुष के मन में घुस कर वह उससे अधिक कुछ ही क्षणों में पा सकती है। इसी आकर्षण रूपी हथियार के बल पर वह इच्छित-पुरुष को जीत कर उसके उपार्जित साधनों का मनमाना उपभोग कर सकती है। इस बात को दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि पुरुष जो साधन पसीना बहा कर प्राप्त करता है वे सब नारी को उस पुरुष की प्रेयसी बनने से ही प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी स्थिति

में नारी अपना हित इसी में समझती है कि वह अन्य गुणों की अपेक्षा अपने रूप-गुण का विकास करे, ताकि उसके प्राप्तव्य मान की सम्भावना बढ़ सके।

यह सच है कि अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए नारी को पुरुष की जरूरत रहती है। उस पूर्ति के लिए वह वांछित पुरुष को आकृष्ट करती है। लेकिन सच यह भी है कि पुरुष का जीवन भी नारी के बिना अधूरा है। अपने नीरस जीवन को सरस बनाने के लिए उसे नारी के संग की जरूरत होती है। लेकिन वांछित नारी को लुभाने के लिए पुरुष को जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती है उनमें 'रूप' का महत्त्व नगण्य होता है। पुरुष यदि रूपवान या काम्य हो तो बहुत खूब होता है अन्यथा धनाढ्य अथवा पदवान होने से रूपहीन और अकाम्य पुरुष भी रूपवती नारी द्वारा पसन्द कर लिया जाता है। यही कारण है कि नारी जहाँ मन पसन्द पुरुष पाने के लिए दर्जी या ब्यूटी नियामक का द्वार खटखटाती है, पुरुष अपनी वांछित नारी पाने के लिए ऊँची परीक्षा देकर ऊँचा पद पाने की चेष्टा करता है या अधिक धन कमाने की योजनाएँ बनाता है।

पश्चिम के जिन राष्ट्रों में नारी समता का नारा ज्यादा ऊँची आवाज में बुलन्द किया जाता है वहाँ नारी को रूप-जीविका पर अधिक निर्भर होना पड़ रहा है। वहाँ के पुरुष धन कमाने की प्रतियोगिता में एक दूसरे से आगे निकलना चाहते हैं वहाँ की नारी में उन पुरुषों की घनी निगाहों का केन्द्र बनने की तमन्ना बढ़ती जा रही है। उस बढ़ती हुई तमन्ना ने नारी के रूप को एक सुनियोजित उद्योग धन्धे का दर्जा दे दिया है। आज वहाँ की नारी का सौन्दर्य कवि की कल्पना का विषय नहीं रहा अब वह पैमानों से नाप कर आकड़ों की सीमा में बँध जाने का विषय बन गया है।

नारी के सामान्य सौन्दर्य के लिए नितम्ब के नाप जितना नाप वक्ष का होना चाहिए। वक्ष का जो नाप हो उसका एक तिहाई निकालने से कमर का औसत नाप निकल आता है। यदि वक्ष और नितम्ब के बीच का कटि भाग उस औसत नाप से कम हो जाए तो सौन्दर्य अलौकिक समझा जाता है।

जो स्त्रियाँ या लड़कियाँ सार्वजनिक-सम्पत्ति नहीं हैं उनके अंगों की नाप-जोख करने का अधिकार उनके प्रेमी पति या भावी पति का होता है लेकिन जिनका रूप रंग सार्वजनिक उपभोग की वस्तु होना है—मसलन मॉडल-लड़कियाँ अभिनेत्रियाँ, नर्तकियाँ, काल गर्ल्ज—उनके रूप सम्बन्धी

आंकडे प्रचारित करना आवश्यक समझा जाता है। किसी नारी की सौन्दर्य चर्चा करने के लिए उपमाएँ तलाश करने की अब वहाँ जरूरत नहीं रही। उस समाज के पुरुष के मन में किसी नारी के प्रति लालसा जगाने के लिए और कोई प्रशंसा करने की अपेक्षा ३६ २४ ३६ कहना काफी है और किसी नारी से विमुख करने के लिए अन्य कोई निन्दासूचक वाक्य कहने की अपेक्षा ३६ ३८ ३६ कहना पर्याप्त है।

नारी के रूप जीवी बनने पर किसी को कुछ आपत्ति नही होती, लेकिन शरीर जीवी बनने पर होती है।

शरीर जीवी उसे नही कहा जाता जो केवल एक पुरुष को जीवन भर के लिए (या एक लम्बे अर्से तक के लिए) अपने शरीर के उपभोग का एकाधिकार देकर पत्नी नाम धारण कर लेती है बल्कि उसे कहा जाता है जो जीविका प्राप्त करने के लिए अनेक पुरुषो को थोडे थोड़े समय के लिए अपना शरीर भोगने का अधिकार देती है।

नारी को अपने समकक्ष मानने का ढोंग रचाने वाला पुरुष अब नारी के वेश्या रूप पर शर्मिन्दा होने लगा है। शर्मिन्दा क्यो न हो? जिस पुरुष ने घोडो, गधो, खच्चरो और बलो पर लादे जाने वाले बोझ की अधिकतम मात्रा निश्चित करके पशुओ पर दया की है वही पुरुष अपनी ही योनि के एक सदस्य के प्रति यदि दयालु न बने तो यह उसके लिए शर्मिन्दगी की बात है। इस प्रकार की शर्मिन्दगी से बचने के लिए बहुत से देशो में वेश्यावृत्ति अवैध घोषित कर दी गयी है। लेकिन समाज चूंकि पुरुष सत्तात्मक है इसलिए आमतौर पर सजा वेश्यागामी को नही मिलती वेश्या को मिलती है। वह सजा चाहे सरकार न दे लेकिन अर्थ-व्यवस्था इस किस्म की है कि वेश्या के साथ की गयी हमदर्दी ही उसके लिए सजा बन जाती है। जिसमें रूप हो वह तो रूपजीवी बन कर जीवन व्यतीत कर लेती है लेकिन समाज से बहिष्कृत जिस नारी में रूप नही होता और न उसमें अन्य कोई योग्यता होती है यदि वह अपने शरीर को जीविका का माध्यम बनाने के अधिकार से वंचित कर दी जाती है तो वह कही की नही रहती। उसके लिए वेश्यावृत्ति-उन्मूलन नामक सहानुभूति बहुत महंगी पडती है। सहानुभूति द्वारा जीवन यापन हो नही सकता। अत वह अपना भला इसी में समझने लगती है कि वह उन दलालो की बात मान ले जो एक जरूरतमन्द को दूसरे जरूरतमन्द से मिलाने के लिए उन दोनो से अधिक उत्सुक होते हैं। फलस्वरूप पूरे तौर पर वेश्यावृत्ति उन्मूलन नही हो पाता। शरीर जीवी

नारी गायिका नतकी, देवदासी, काल गल परिचायिका या सोसाइटी-गल जसे किसी न किसी रूप में पुरुष-सत्तात्मक समाज का आवश्यक अग हर काल में बनी रहती है।

०

प्रकरण—६
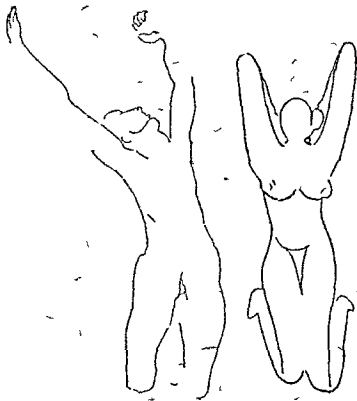
यौन-प्रसग मे श्रेष्ठक-भावना

कामांग-प्रदर्शनेच्छा

मेरी आवाज़ कर्कश हो गयी है। मेरे चेहरे, हाथ पाँव टांगों और शरीर पर मोटे मोटे बाल उग आए हैं। शरीर की वह कोमलता, जो बालपन से अब तक मेरे साथ थी, अब मुझसे विदा ले चुकी है, उसकी जगह खुरदरापन-सा छा गया है। हाथ पाँव, बेढंग तौर से बढ गये हैं। यौनांग की श्यामलता गहरी हो गयी है। उस अंग के आस पास उत्पन्न होने वाले बालों ने उसे और भी भद्दा बना दिया है।'

बचपन से जवानी की ओर बढता हुआ किशोर यह सब सोच-सोच कर परेशान हो जाता है। पढा सुना उसने है कि लडकी लडके की ओर आकृष्ट होती है लेकिन वह अपनी काया इस योग्य नहीं समझता, जो किसी लडकी के मन को लुभा सके।

दूसरी ओर यौवन की ओर अग्रसर होने वाली किशोरी अपने शरीर के कुछ भागों पर उभरते हुए मांस पिण्डों से परेशान हो रही होती है। लडकों के सपाट शरीर के मुकाबिले में उसे अपना वक्र शरीर बेतुका-सा लगता है। विशालकाय पुरुष के सामने अपना छोटा-सा शरीर ले जाते हुए उसे निरीहता का बोध होता है। जिसपर भीतर को धसी हुई चारों ओर

बालों से घिरी योनि प्रणाली, उससे हुए माग निकल। कामानुभव, यह सब युव सुलभ परिवर्तन उस हीनता का सहभाग कराते रहते हैं।

किशोर और किशोरी को अधिक समय तक इस हीनता से ग्रसित नहीं होना पड़ता। जो बात समाज में हर वयस्क को ज्ञात है वह सवेर अवेर नव विकसित किशोर और किशोरी को भी ज्ञात हो जाती है। उन दोनों को पता लग जाता है कि अपने अंगों में होने वाले इन नवीन-परिवर्तनों के कारण ही वे विषम लिंगियों के लिए काम्य बनते हैं।

कभी-कभी युव सुलभ अंगों का विकास बाद में होता है उनका महत्त्व पहले ज्ञात हो जाता है। उस दशा में लड़का दाढ़ी उगने से पहले ब्लेड का उपयोग करके वांछित बाल उगा लेता है और लड़की प्रकृति द्वारा नियत समय से पूर्व, कृत्रिम साधनों के सहारे अपने शरीर में मुनासिब उभार पैदा कर लेती है।

युव सुलभ विशेषताओं और अंगों का श्रेष्ठत्व ज्ञात होते ही किशोरियाँ और किशोर अपने उन अंगों और विशेषताओं को जिन्हें वे पहिले छुपाने के लिए प्रयत्न कर रहे होते हैं प्रदर्शित करने के इच्छुक होने लगते हैं।

अंगों की श्रेष्ठता का ज्ञान होने के बाद उन्हें प्रदर्शित करने की इच्छा का उठना स्वाभाविक है लेकिन उस इच्छा की पूर्ति हर कोई नहीं कर सकता। जो व्यक्ति सामाजिक नियमों को अपनी इच्छा से अधिक मूल्यवान समझता है वह अपनी प्रदर्शनेच्छा दबाए रखता है। जो अपनी इस इच्छा को सर्वोपरि समझता है वह कामांग प्रदर्शनकारी बन जाता है।

कामांगों का प्रदर्शन वह निरुद्देश्य नहीं करता। वह यह सोच कर अपने अंग उघाड़ता है कि मेरे पास कुछ ऐसे अंग हैं जिनकी आवश्यकता विषम लिंगी व्यक्तित्वों को है। उन अंगों के मेरे पास मौजूद होने का ज्ञान अधिक से अधिक विषम लिंगियों को करा देना चाहिए ताकि जरूरतमन्द खुद आकर सम्पर्क स्थापित कर ले। प्रदर्शन रूपी यह कदम उठाकर वह समझता है कि मैंने अपने कर्त्तव्य का पालन कर लिया है। अब जिसे गरज होगी मुझ से सम्पर्क स्थापित करेगा। मेरे इन विशिष्ट अंगों को पाने के लिए मुझ से प्रेम निवेदन करेगा। यह सोचता हुआ वह किसी सम्भावित यौन सहयोगी की ओर से प्रेम निवेदन होने की प्रतीक्षा करता है। आमतौर पर ऐसी प्रतीक्षा विफल होती है लेकिन उन प्रदर्शनकारियों में से कोई कोई उस प्रतीक्षा के सुख का इतना अभ्यस्त हो जाता है कि अन्य सभी सुख उस सुख के सामने उसे गौण दिखाई देते हैं। अपने कामांग प्रदर्शित करते समय

उसका शरीर इतना गर्मा जाता है कि उसके शरीर की अतिरिक्त शक्ति का अधिकांश इसी गर्माने में ही व्यय हो जाता है। उस शक्ति अनुकूलन के लिए मैथुन की आवश्यकता नहीं रहती।

पुरुष-सत्तात्मक समाज में नारी को अपने शरीर का अधिक भाग विवस्त्र रखने की छूट मिली हुई है अतः अपनी यौन विशेषताएं प्रदर्शित करने की उसकी इच्छा फैशन की सीमा में आ चुकी है। जब कभी उसका इरादा फैशन की सीमा का अतिक्रमण करने का होता है तो कैबरे गर्ल या माडल गर्ल बनकर वह अपनी प्रदर्शन इच्छा पूरी कर सकती है।

आधुनिक समाज के पुरुष का बाना ऐसा है कि उससे उसके शरीर का अधिकतर भाग ढका रहता है। समाज में विचरण करते हुए यदि वह अपना लिबास संक्षिप्त करना चाहता है तो उसका वह आचरण फैशन के विपरीत हो जाता है। माडल-बॉय या कवर बॉय के रूप में उसकी नग्नता के कद्रदान आसानी से नहीं मिलते। ऐसी स्थिति में पुरुष को अपनी प्रदर्शनेच्छा पूरी करने के लिए 'छद्म' का सहारा लेना पड़ता है। वह कहीं कोने में खड़ा होकर आने जाने वाली लड़कियों के सामने किसी बहाने से अपना अधोवस्त्र गिरा देता है। यदि दर्शक-लड़की उसका यौनांग देख कर लजा जाती है तो वह उस लज्जा को श्रेष्ठत्व-स्वीकृति का चिह्न समझता है। उसकी सहज बुद्धि की मान्यता के अनुसार लाज हीनता के आभास के कारण आती है। वह हीनता उसके कामांग दर्शन से आयी इसलिए वह उसी कामांग के कारण अपने आपको श्रेष्ठ समझने लगता है और इस श्रेष्ठत्व प्रदर्शन के मामले में वह पहले से अधिक उत्साह दिखाने लगता है।

कामांग प्रदर्शन के ऊपर बताए गए उपाय बरतने वाले व्यक्ति आम तौर पर साधन हीन वर्ग के लोग होते हैं। साधन-सम्पन्न वर्ग अपना शारीरिक श्रेष्ठत्व दिखाने के लिए ऐसे गैरकानूनी ढंग नहीं अपनाता, बल्कि वह 'नंगे क्लब' या धूप-स्नान शिविर जैसे निरापद स्थानों का आयोजन करके अपने कामांगों का प्रदर्शन करता है।

कामांग प्रदर्शन में ही मैथुन काल जितनी उत्तेजना प्राप्त कर लेने की स्थिति तक विरले ही पहुँचते हैं। अधिक संख्या उनकी होती है जो दूसरे दर्जे की यौन विशिष्टताएँ प्रदर्शित करके अपनी श्रेष्ठत्व भावना को परितृप्त करते हैं।

शिश्न और योनि को हमने पहले दर्जे की यौन विशेषताओं में रखा

है। उन्हें छोड़ कर पुरुष और नारी की गुप्त गुप्तांग नाप सारी शारीरिक विशिष्टताएँ दूसरे दर्जे में आ जाती हैं। गरेबान के बटन खोल कर छाती के बाल दिखने देना या झीने वस्त्र या कोई लिबास में न आगों के तौर पर शरीर का कोई भाग प्रदर्शित करके नाप हुने भागों के लिए उत्सुकता जगा देना, इसके दर्जे की प्रदर्शनेच्छा है।

प्रदर्शनेच्छा जरूरी नहीं कि विवस्त्र होकर ही पूरी की जाए। कसा लिबास पहन कर भी अपना शारीरिक-सौष्ठव प्रकट किया जा सकता है। फिट (fit) लिबास के प्रचलन का कारण यही सौष्ठव प्रदर्शन की कामना होती है।

समाज में ऐसे नर-नारी भी हैं जिनकी रुचि कामांग प्रदर्शन में नहीं है। स्पष्ट है कि ये वही लोग हैं जिन्हें अपने अंगों के सौष्ठव पर विश्वास नहीं है या जिनके श्रेष्ठत्व प्रदर्शन के माध्यम अन्य हैं। ऐसे व्यक्तियों के प्रयत्नों से घने लिबास का रिवाज चला था। जिन्हें अपनी काया के श्रेष्ठ होने पर गर्व है वे अपने आपको विवस्त्र करने को बेताब हैं। उनकी इस विवस्त्र रहने की कामना का नाम कुछ मनोचिकित्सकों ने 'क्लाथो फोबिया'[1] रखा है। नैतिकतावादी उस आदत को अश्लीलता या अशिष्टता की श्रेणी में रखते हैं लेकिन विवस्त्र होने के इच्छुकों को अपने बारे में बनाई गयी दूसरों की इन धारणाओं की परवाह नहीं होती। उन्हें तो क्रोध तभी आता है जब कभी उन्हें विवस्त्र होने से रोका जाता है। यह रोका जाना उन्हें वैसे ही बुरा लगता है जैसे किसी वाचाल को बोलने से मना करने पर बुरा लगता है।

o

[1] एक तथाकथित मानसिक रोग जिसका मरीज कपड़े पहनने में उलझन महसूस करता है।

कामांग-प्रदर्शनेच्छा पर पुरुष-सत्ता का प्रभाव

पुरुष यदि और कुछ न पहने, केवल लगोट पहन ले तो प्रचलित नैतिकता की दृष्टि से वह श्लीलता की सीमा में आ जाता है। नारी को श्लीलता की उस सीमा में आने के लिए लगोट से अधिक कपड़ा चाहिए क्योंकि नैतिक दृष्टि से उसका वक्षस्थल का ढापना भी जरूरी समझा जाता है।

गोया बुनियादी नगपन से बचने के लिए पुरुष को जितना कपड़ा चाहिए नारी को उससे अधिक चाहिए लेकिन आधुनिक समाज में जितना संक्षिप्त लिबास पहन कर नारी प्रगतिशील दिखती है, उतना संक्षिप्त लिबास पहन कर यदि पुरुष समाज में आए तो वह अशिष्ट समझा जाता है।

एक सामान्य पुरुष (कामांग प्रदर्शनेच्छुक नहीं) समाज में खुद को शिष्ट सिद्ध करने के लिए अपने शरीर पर कपड़ों की तह पर तह लगाता है। पूरा लिबास पहन लेने के बाद जो अंग कपड़ों से बाहर रह जाते हैं उन्हें जुराब बट, टाई आदि से बन्द कर देता है। चेहरा खुला रख कर शेष सारे शरीर को ढांप लेना आधुनिक सभ्य पुरुष का आदर्श है। उस औसत लिबास से कम पहनना या तो अशिष्टता का सूचक समझा जाता है या

विपन्नता का।

पुरुष की तन को ढाँपने की इस आदत का कारण यह है कि सामान्य पुरुष उत्तेजनाहीन के क्षणों में अपनी काया और यौनांग को इतना सुंदर नहीं समझता कि उसे प्रदर्शित करे।

उसकी इस धारणा के अनेक कारण हैं। एक यह कि पुरुष सौंदर्य का मूल्यांकन करने वाली वास्तविक इकाई, नारी को पुरुष सत्तात्मक-समाज में इतनी छूट नहीं मिली कि वह पुरुष का नख शिख वर्णन खुले शब्दों में करके अपना पसंद व्यक्त कर सके।[1] उस वर्णन के अभाव में सामान्य पुरुष अपनी काया की श्रेष्ठता का पूरा अनुमान नहीं कर सकता। दूसरा कारण यह है कि पुरुषत्व वर्द्धक औषधियाँ बेचने वाले तथाकथित चिकित्सकों ने अपने व्यावसायिक लाभ के लिए पुरुष कामांग के आकार के बारे में अतिशयोक्तिपूर्ण धारणाएँ प्रचारित की हुई हैं। उन धारणाओं के अनुसार कोई भी सामान्य पुरुष अपने यौनांग के आकार को श्रेष्ठ नहीं मान सकता। अतः उत्तेजनाहीन क्षणों में वह नहीं चाहता कि उसका यौनांग सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित हो। वह खुद चूँकि प्रदर्शित नहीं करना चाहता इसलिए जो कामांग प्रदर्शनकारी अपना प्रदर्शन करना चाहता है, उस अभद्रप्रदर्शनकारी को वह कर रोकना चाहता है। इस वर्जन के पीछे सामान्य पुरुष की यह आशंका होती है कि कहीं प्रदर्शनकारी अपना प्रदर्शन जारी रखकर उसकी सम्भावित यौन सहयोगिनी को पुरुष कामांग का मानक आकार ज्ञात न करा दे।

जो सामान्य पुरुष अपने अंगों को रहस्यमय बनाए रखना चाहता है वही पुरुष अपने संग की दूसरी इकाई नारी के अधिक से अधिक अंगों को वस्त्रविहीन देखना चाहता है। पुरुष द्वारा किया गया जिन अंगों का प्रदर्शन अभद्रप्रदर्शन समझा जाता है नारी द्वारा किया गया वैसा प्रदर्शन वह बड़ी लालसा से देखता है। ऐसे समाज के वासी चित्रकार छायाकार तथा मूर्तिकार की तूलिका कमरा तथा छैनी पुरुष-सुलभ अंगों की बजाय नारी सुलभ अंगों का चित्रण खुले रूप में करने लगती है। जहाँ नर और नारी दोनों का एक साथ विवस्त्र दिखाना अभीष्ट होता है वहाँ कलाकार (जो सामान्यतः पुरुष होता है) पुरुष-काया को नारी की ओट में छिपाने की चालाकी करके पुरुष वर्ग को भरे समाज में नंगा होने से बचा जाता है।

---

१ इस विषय पर अधिक विवरण भाग के एक प्रकरण 'फैशन' का आधार में दिया गया है।

यदि अकेले पुरुष को वस्त्र विहीन दिखाना हो तो वह, पुरुष का या तो साइड-पोज़ दिखा देता है या शिश्न को अंजीर के पत्ते जसी किसी वस्तु से छुपाने की कोशिश करता है।

जिस तरह सामान्य पुरुष उत्तेजनाहीन क्षणों में अपने युव सुलभ अंगो को सुन्दर नहीं मानता उसी तरह नारी के अपने मत के अनुसार उसके युव-सुलभ अंग विशेष आकर्षक नहीं होते। यदि वह ऐसे वातावरण में पली बढ़ी हो जहां उसे अपने अंगो के बारे में पुरुष का दृष्टिकोण ज्ञात न होने दिया गया हो तो वह अपने युव सुलभ अंगो को भद्दा मानेगी। लेकिन एक औसत नारी आमतौर पर अपने सौन्दर्य के बारे में पुरुष के मत से बेखबर नहीं रहती। पुरुष द्वारा रचे नख शिख वर्णन के कारण उसे अपने विशिष्ट अंगो के महत्त्व का ज्ञान होता रहता है। उस ज्ञान के कारण वह अपनी यौन विशेषताओं को खुला रखने में श्रेष्ठता अनुभव करने लगती है। फल यह होता है कि पुरुष सत्तात्मक-समाज में बसने वाली नारी का लिबास पुरुष की पसन्द के अनुकूल संक्षिप्त से संक्षिप्ततर होता चला जाता है।

जिस प्रकार पुरुष नारी को विवस्त्र देखना चाहता है, उसी प्रकार पुरुष को विवस्त्र देखने की कामना नारी में भी होती है लेकिन सामाजिक गठन इस प्रकार का है कि वह खुलकर अपनी यह कामना प्रकट नहीं कर सकती। इसलिए पुरुष अपनी सूझ के अनुसार नारी को अपने प्रति आकृष्ट करने के लिए उन साधनों को प्रदर्शित करता है जिससे वह नारी पर यह प्रकट कर सके कि वह उसकी महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी करने में समर्थ है। वह अपने तथाकथित हीन शरीर को कीमती लिबास से ढांप लेता है। उस लिबास के ऊपर कोई बहुमूल्य कार ओढ लेता है बिल्डिंग ओढ लेता है।

जिस पुरुष के पास प्रदर्शित करने के लिए ये सब साधन नहीं होते, रह सह कर अपनी काया होती है वही पुरुष अपना लिबास संक्षिप्त होने देता है।

बेटा से अपना यौन सम्बन्ध जोडने लगता है और कोई सारे समाज के पुरुषा का अपना 'साला' या 'ससुरा' बना लेता है। जो व्यक्ति सचमुच 'साला' या 'ससुरा' नही है उसे यदि वक्ता इन सम्बोधनो से सम्बोधित करता है, तो श्रोता इसे गाली समझता है क्योंकि इन शब्दो की गहराई मे पैठना श्रोता के लिए असह्य होता है। साला—यानी सम्बोधित व्यक्ति की बहन से सम्बोधनकर्ता का यौन-सम्बन्ध होना। ससुरा—वही सम्बन्ध सम्बोधित व्यक्ति की पुत्री से होना। इतने गहरे अर्थों वाले सम्बोधनो को वह व्यक्ति सहन नहीं कर सकता जो सचमुच साला या ससुरा न हो। उन गालियो के अनुसार व्यवहार करने का इरादा सामान्यत गालीदाता पुरुष के मन मे नहीं होता। जिन अनदेखी नारियो से यौन-सम्बन्ध होने की घोषणा गाली देने वाला पुरुष करता है हो सकता है उन्हें देखकर वह उनसे यौन सम्बन्ध रखना तो दरकिनार, उन्हे छूना भी पसन्द न करे। लेकिन गाली देकर वह इतना प्रकट तो कर ही लेता है कि वह एक पुरुषत्व पूर्ण पुरुष है। और यह भी कि उस अगम्य गमन को वह अपने लिए लज्जा की बात नहीं मानता बल्कि गालियो के पात्र के लिए शर्मिन्दगी की बात समझता है। दूसरे शब्दों मे वह यह गाली देकर यह सत्य प्रकट करता है कि अगम्य स्त्री से सम्बन्ध रख कर पुरुष का कुछ नहीं बिगडता, बल्कि उस अगम्य-स्त्री की ही हानि होती है।

गालियो द्वारा अपना पौरुष प्रकट करने वाला व्यक्ति अपनी नजरो मे, या अपने जैसे मित्रो की नजर मे भले ही ऊँचा दिखाई देता हो, लेकिन शिष्ट समाज मे वह अगम्य समझा जाता है। लेकिन शिष्ट पुरुषो को भी अपना पुरुषत्व प्रकट करना पडता है। उनमे से कोई शायर बन कर काल्पनिक लडकियो पर मर मिटने वाला भाव प्रकट करने वाली शायरी करने लगता है। कोई उस शायरी की दाद देकर खुद को मर्दों की कतार मे खडा कर लेता है। कोई इस किस्म की जबानी जमा खर्च पर यकीन नही रखता। वह राह चलती लडकियो को छेडने लगता है।

यदि कोई नवयुवक किसी लडकी को छेडता है तो उसका निश्चित उद्देश्य यह नहीं होता कि वह छेडी गयी लडकी से मथुन करने का आकाक्षी है बल्कि वह अपनी इस क्रिया से यह प्रकट करता है कि वह पुरुष हो गया है। अपने मित्रो मे अपने पुरुषत्व का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए वह ऐसा कोई काम करना चाहता है जिससे उन्हें ज्ञात हो सके कि अब कामेच्छा दबाना उसके बस की बात नहीं रही। यदि उसे छेडखानी के बदले में

बेटी से अपना यौन सम्बन्ध जोडने लगता है और कोई सारे ससार के पुरुषो को अपना 'साला' या ससुरा बना लेता है। जो व्यक्ति सचमुच 'साला' या 'ससुरा' नहीं है उसे यदि वक्ता इन सम्बोधनो से सम्बोधित करता है तो श्रोता इसे गाली समझता है क्योंकि इन शब्दो की गहराई मे पठना श्रोता के लिए असह्य होता है। साला—यानी सम्बोधित व्यक्ति की बहन से सम्बोधनकर्ता का यौन सम्बन्ध होना। ससुरा—वही सम्बन्ध सम्बोधित व्यक्ति की पुत्री से होना। इतने गहरे अर्थों वाले सम्बोधनो को वह व्यक्ति सहन नहीं कर सकता जो सचमुच साला या ससुरा न हो। उन गालियो के अनुसार व्यवहार करने का इरादा सामान्यत गालीदाता पुरुष के मन म नही होता। जिन अनदेखी नारियो स यौन-सम्बन्ध होने की घोषणा गाली देने वाला पुरुष करता है हो सकता है उन्ह देखकर वह उनसे यौन सम्बन्ध रखना तो दरकिनार उन्हें छूना भी पसन्द न करे। लेकिन गाली देकर वह इतना प्रकट तो कर ही लेता है कि वह एक पुरुषत्व पूर्ण पुरुष है। और यह भी कि उस अगम्य-गमन को वह अपने लिए लज्जा की बात नही मानता बल्कि गालियो के पात्र के लिए शर्मिन्दगी की बात समझता है। दूसरे शब्दो मे वह यह गाली देकर यह सत्य प्रकट करता है कि अगम्य स्त्री से सम्बन्ध रख कर पुरुष का कुछ नही बिगडता, बल्कि उस अगम्य-स्त्री की ही हानि होती है।

गालियो द्वारा अपना पौरुष प्रकट करने वाला व्यक्ति अपनी नजरो म, या अपने जसे मित्रो की नजर म भले ही ऊँचा दिखाई देता हो लेकिन शिष्ट समाज में वह असभ्य समझा जाता है। लेकिन शिष्ट पुरुषो को भी अपना पुरुषत्व प्रकट करना पडता है। उनमे से कोई शायर बन कर काल्पनिक लडकियो पर मर मिटने वाला भाव प्रकट करने वाली शायरी करने लगता है। कोई उस शायरी की दाद देकर खुद को मर्दों की कतार म खडा कर लेता है। कोई इस किस्म की जबानी जमा खच पर यकीन नही रखता। वह राह चलती लडकियो को छेडने लगता है।

यदि कोई नवयुवक किसी लडकी को छेडता है तो उसका निश्चित उद्देश्य यह नहीं होता कि वह छेडी गयी लडकी से मथुन करने का आकाक्षी है बल्कि वह अपनी इस क्रिया से यह प्रकट करता है कि वह पुरुष हो गया है। अपने मित्रो म अपने पुरुषत्व का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए वह ऐसा कोई काम करना चाहता है जिससे उन्ह जान करा सके कि अब कामेच्छा दबाना उसके वश की बात नहीं रही। यदि उस छेडखानी के बदले म

वेश्यागामी का दृष्टिकोण

'पुरुष' का मुख्य गुण 'मैथुन सामर्थ्य' मान लेने या मनवा लेने के बाद उस गुण का प्रचार करने के लिए जो साधन अपनाए जाते हैं, वेश्यागमन उनमें से एक है।

अविवाहित व्यक्ति यदि पत्नी के अभाव में वेश्यागमन करता है तो हम कह सकते हैं कि मदनताप से मुक्त होने के लिए वह वेश्यागामी बना। लेकिन कोई विवाहित व्यक्ति यदि सुन्दर और गर्म पत्नी के होते हुए वेश्यागमन करता है तो उसका कारण जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

सामान्यतः विवाहित पुरुष जब वेश्यागामी बनता है तो उसका यह आचरण उसके शरीर की माँग पर आधारित नहीं होता बल्कि अपनी इस क्रिया द्वारा वह दूसरों पर यह प्रकट करना चाहता है कि उसका पुंसत्व अत्यन्त प्रबल है। इतना प्रबल कि अकेली पत्नी द्वारा सम्भाला नहीं जा सकता।

लोग हैरान होते हैं कि घर में लक्ष्मी सी सुन्दर बहू को छोड़ कर अमुक व्यक्ति क्यों पत्नी की अपेक्षा कम-सुन्दर वेश्या या गायिका के चक्कर

मे जा फँसा। ऐसा आश्चय उन लोगो को होता है जो पुरुष की उस मान सिक भूख को नही चाहल जो *'पापी बलम' 'बेईमान साजन', या 'निदयी प्रीतम'* जसी तथाकथित गालियाँ सुन कर तृप्त होती है। जब कोई गायिका अपने गीत के बोल द्वारा किसी पुरुष को निदयी, बेईमान या पापी जसे शब्दो से सम्बोधित करती है तो उस सम्बोधन से पुरुष का अपनी माँग का अहसास होता है। उस अहसास को समझने के लिए उन सम्बोधन सूचक विशेषणा की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

१ तुम्ह देखकर मैं काम ज्वाल से दग्ध होने लगी हूँ। उस ज्वाला का शान्त करने का माध्यम तुम्हारा पुरुत्व है लेकिन तुम हो कि दग्धा को अपने पुरुत्व की भीख देने म देर कर रहे हो। मेरी इस दयनीय दशा पर भी तुम्हे दया नही आ रही। फिर मैं तुम्ह निदयी या जालिम क्यो न कहू ?

२ ओह! छल से तुमने मेरा स्त्रीत्व हर लिया। तुम्हारी इस बेइमानी स मेरा रोम रोम कृतज्ञ हो गया है लेकिन नारी सुलभ लज्जा के कारण मैं अपनी यह कृतज्ञता प्रकट नही कर सकती इसलिए तुम पर प्रसन्न होकर भी मैं 'बेईमान' 'छली' जसे अपमानपूण विशेषणो से तुम्ह सम्बोधित कर रही हूँ।

३ तुमने मेरे साथ अभी अभी जो कुछ किया है या जो कुछ तुम मेरे साथ करने की इच्छा रखते हो, वह कम समाज की नजरो म पाप है। इसलिए तुम्हे 'पापी' कह रही हू। वैसे मन से मैं इस पाप को पसद करती हूँ, तभी तो देखो! तुम्ह पापी कह कर भी तुम्ह लुभाने का यत्न कर रही हूँ। इसी से तुम समझ लो कि मैं तुम्हारे पुरुत्व की कितनी प्यासी हूँ।

४ मुख से तिरस्कारपूण शब्द, हाव भाव म तुम्हारा आह्वाहन, यह सब कुछ मैं भरी सभा म बठी सबके सामने कह और कर रही हूँ, तुम्हारे पौरुष का ऐसा अभिनन्दन क्या तुम्हारी लक्ष्मी समान सुन्दर गुण वती पत्नी कर सकती है ? '

वेश्यागामी जानता है कि उसकी विवाहिता उसका ऐसा अभिनन्दन कभी नही कर सकती। उसक इस श्रेष्ठत्व को भरी सभा म स्वीकारने वाली नारी नगर-वधु होती है। अपने पौरुष के इस चारण का वह त्रिलोक का राज्य द सकता है। चूकि त्रलोक्य का राज्य उसके पास नहीं होता, इसलिए वह वेश्या को कहना चाहता है—

"लो, मेरी आय का जितना भाग तुम चाहो, ले लो। इसके बदले म मेरे पुरुष-गुण की दाद दो। मेरे अन्य गुणो की दाद देने के लिए मेरे बहुत से मुसाहिब हैं लेकिन मेरी यौन सामर्थ्य की दाद देने वाला सिवाय तुम्हारे कोई नही है।

'इतिहास साक्षी है कि तुम बेवफा हो। तुम्हारी लाज बनावटी है, तुम्हारे हाव भाव झूठे है। यह सब कुछ जानते हुए भी मैं इस वास्तविकता पर पर्दा पडे रहने देना चाहता हूँ। यदि कोई महाकजूस अपने आपको 'महादानी' सम्बोधित किए जाने पर खुश हो सकता है तो तुम्हारी इस खुशामद से मैं क्या न खुश होऊँ।

'यदि तुम कभी मुझे दाद नही भी देती, मुझे लांछित करती हो, अपमानित करती हो, तो भी एक तरह से मेरे पुरुत्व का प्रचार हो ही जाता है। जिन लोगो म मैं उठता-बैठता हू, व प्रबल-कामी को ही पूर्ण पुरुष मानते हैं। जब तुम मुझे धक्का देकर बाहर निकाल देती हो तो मेरे मित्रो तक परोक्ष रूप से यह बात पहुच जाती है कि मैं ऐसी जगह से निकाला गया हूँ जहाँ से प्रबल-पुरुषत्व वाले व्यक्ति उस समय निकाले जाते है जब उनकी गाँठ म रुपये नही होते। गाँठ भरी न होना कोई शर्म की बात नहीं है। शर्म की बात तब होती जब पुरुषत्व चुक जाता। शुक्र है मेरा पुरुषत्व इतना प्रबल है कि न तो घर की पत्नी द्वारा सम्भाला जा सकता है न ही तुम्हारे तिरस्कार से घटा है। यदि मेरे मित्रो तक यह तथ्य पहुँच जाता है तो समझ लो मैं तिरस्कृत नही हुआ हूँ बल्कि अब मैं उन नर रत्नो की सभा म बैठने का अधिकारी हुआ हूँ, जो पुरुषत्व का अर्थ 'पुरुत्व' के अतिरिक्त कुछ नही जानते।"

●

बलात्कारी का दृष्टिकोण

बलात्कार के मुकद्दमे का अपराधी बडे गर्व से अपना परिचय देता है—मैं रेप केस का अपराधी हूँ।

"मैं बलात्कारी हूँ"—इस वाक्य की व्याख्या उसके मन में इस प्रकार होती है—"आप लोगों को यकीन हो जाना चाहिए कि मैं पुरुष हूँ। किसी नारी का सतीत्व भंग करने का गुण मुझमें विकट रूप से है।

'मैं जेल के द्वार तक आ पहुँचा हूँ लेकिन यह तो सोचो कि किस जुर्म में? चोरी मैंने नहीं की, ठगी मुझसे नहीं हुई, डकैत मैं नहीं हूँ, बल्कि मेरा जुर्म यह है कि मैं नपुंसक नहीं हूँ। अपना पौरुष प्रकट करने के लिए लोग हथेली पर जान लिए घूमते हैं। अपनी कलाइयों को चूडियों के अयोग्य सिद्ध करने के लिए लोग तोपों के दहानों में सिर डाल देते हैं। वही पुरुषत्व प्रकट करने के लिए मैंने भी एक राह अपनाई है।

"इतिहास में कथित प्रसिद्ध वीरों के जोखिम भरे कामों की अपेक्षा पौरुष प्रकट करने का मेरा तरीका अधिक मजेदार और कम जोखिम का रहा है। इस तरीके से एक तो मनपसन्द सुन्दरी का आनन्द भोगा है, दूसरे न्यायालय में मौजूद दर्शकों, जजों, वकीलों के सामने अपने प्रबल-कामी

होने का प्रमाण-पत्र लिया है।"

बलात्कार करने के बाद कर्ता चाहे दिल-ही दिल में पछता रहा हो लेकिन अपना पश्चाताप वह प्रकट नहीं करता। वैसे भी कोई बलात्कारी यह सोच कर घर से नहीं चलता कि मैं बलात्कार करने जा रहा हूं। बलात्कारी हो चुकने से पहले के क्षण तक उसे यही विश्वास होता है कि मैं बलात् कुछ भी नहीं कर रहा, बल्कि अपने एक नये यौन सहयोगी को यौनानन्द का आस्वादन कराने लगा हूं। उसके मन में अपने अटकलबाज मित्रों से सुनी हुई कुछ लोकोक्तियाँ होती हैं जिनका आशय होता है कि जो नारी या लड़की हँस कर देख ले, समझ लो वह फँस गयी। नारी के केवल हँसने के बारे में ही मित्रों ने कहावतें गढ़ी थीं, उन मित्रों का आगे यह कहना है—'जो लड़की प्रेम निवेदन सुनकर लज्जित दिखाई दे तो समझिए स्वीकृति के लिए तैयार है। क्रुद्ध हो जाए तो आशा रखिए, तैयार हो जाएगी। ना' कहे तो एक दूसरी प्रचलित लोकोक्ति ध्यान में लाइए कि नारी की 'ना' का अर्थ 'हाँ' होता है—इत्यादि।'

कुछ अटकलबाज यौन-शास्त्रियों के फतवे भी उसके इरादे को पक्का बनने में सहायता देते हैं। मसलन यह कि नारी में पुरुष से आठगुना काम होता है, जो बाहर से दिखाई नहीं देता, कुरेदने से ज्ञात होता है। या यह कि एक बार जिस पुरुष से नारी यौन-संतुष्टि पा लेती है उस पुरुष की गुलाम बन कर रहती है।

यह सब पढ़ सुन कर वह पुरुष (समाज जिसे बलात्कारी कहता है) नारी के काम की थाह पाने का दायित्व अपने पर लेता है। वह इस आशा से प्राक्क्रीडाएँ शुरू करता है कि मानिनी मान जाएगी। यदि मानिनी नहीं मानती यानी वह मैथुन के प्रति अनिच्छा प्रकट करती है तो वह उसका कारण उसमें नारी सुलभ लज्जा का होना समझता है। वह यह सोच कर अपने मन को बहलाता है कि—वास्तव में वह नारी मन में मेरी कामना कर रही है। मेरी थम पहल करने की देर है उसके बाद वह समाज द्वारा पहनाई गई लज्जा की झिल्ली उतार कर कुछ ही क्षणों में उसके आगे पुरुत्व की याचना करने लगेगी।

इस प्रकार अपने आपको समझाता-बुझाता हुआ बलात्कारी प्राक्-क्रियाओं से आगे बढ़ता है। यदि उसका वास्ता निपट कुमारी या अपरिपक्व लड़की से पड़ता है तो वह अपने मन को यों समझाता है—

"जो मुझ से यौन-सुख नहीं लेना चाहती, वास्तव में उसे उस सुख का

शात ही नहीं है। एक बार यह उस आनन्द को पा लेगी, तो फिर वह उसके बिना रह न सकेगी। केवल पहली बार उस यौन सुख से परिचय कराने की सेवा तो मुझे करनी ही चाहिए। चाहे उसके लिए मुझे कुछ सख्ती से काम क्यों न लेना पड़े।'

यदि वह किसी अगम्य परिपक्व स्त्री की ओर अग्रसर होता है तो उस तक पहुँचने का उसका तर्क यह होता है—

'अब तक यह नारी अधूरा यौनानन्द प्राप्त करती रही है। मन-ही मन वह किसी पूर्ण-पुरुष की तलाश में है। उसे ज्ञात नहीं उसे पूर्ण तृप्ति देने वाला वह पूर्ण-पुरुष जिसकी तलाश उसे है वह मैं हूँ। संकोचवश की जाने वाली 'ना' की परवाह न करके मैं अपने पुंस्त्व का प्रमाण उसे देकर उसके किसी काम आता हूँ।"

यह सोच कर वह बढ़ता है। नारी की ना का अर्थ हाँ बताने वाला, उसके मित्रों का दिया हुआ शब्दकोष उसके पास होता है। अतः वह नारी की हर अनिच्छा सूचक क्रिया का अर्थ अपनी मर्जी से 'इच्छा' लगाता हुआ बलात्-समागम कर डालता है। उत्तेजना उतरने के बाद उसे पश्चाताप होता है लेकिन वह अपना पश्चाताप प्रकट नहीं करता। वह सोचता है, अब जो हो गया, उससे प्रतिष्ठा का पहलू निकलना चाहिए। यह सोच कर वह अपनी उस क्रिया को अपना पुरुषोचित गुण मान कर, अपनी गर्दन पहले से अधिक तान लेता है।

०

यौन-प्रकरण मे नारी की श्रेष्ठक-भावना

मथुन काल में नारी के मुख से निकलने वाली आह का पुरुष अपनी मर्दानगी के हक म 'वाह' समझता है। सम्भोग काल म अगर वह मंजिल तक ठीक तरीके से न पहुँचा हो, तो भी वह अपन मित्रा स अपन शयनागार की घटना सुनात समय यही बताता है कि उसने अपनी यौन सहयागिनी को पराजित करके, उस से तौबा कराकर ही दम लिया था।

यदि किसी नारी को अपनी सहेलिया पर अपने यौन-जीवन की श्रेष्ठता का रोब डालना हो तो उसका तरीका दूसरा होता है। जब वह अपनी सहेली से अपन समागम की घटना सुनाती है तो वह अपनी मथुन-सामर्थ्य नहीं दर्शाती, बल्कि यह प्रकट करती है कि मैं अपन प्रेमी को अत्यन्त प्रिय लगी। इतनी अधिक प्रिय कि बारम्बार मुझ से भोग करने पर भी उसका मन न भरा। यदि उसके शरीर पर नख, दन्त आदि के चिह्न बने हुए हों तो फिर बात ही क्या। अपन प्रिय की प्यारी होने के ये प्रमाण-पत्र, वह छुपाने का बहाना करते-करते दिखा दती है।

लडका जब लडकी का पीछा करता है या छल-पूवक उसे स्पश करता है, या उससे छेडखानी करता है तो लडकी का इससे गौरव बढता है,

जाता ही नहीं है। एक बार वह उस आनन्द को पा लेगी तो फिर वह उसके बिना रह न सकेगी। केवल पहली बार उसे यौन सुख का परिचय कराने की तथा का मुझे करनी ही चाहिए। बाद उसके लिए मुझे कुछ करना है काम बचा न रहता।

यदि वह किसी अनन्य परिचय स्त्री की ओर अग्रसर होता है तो उस तक पहुँचने का उसका तर्क यह होता है—

"अब तक वह नारी अधूरा यौनानन्द प्राप्त करती रही है। मन-ही-मन वह किसी पूर्ण-पुरुष की तलाश में है। उस प्यार नहीं उसे पूर्ण तृप्ति देने वाला वह पूर्ण-पुरुष जिसकी तलाश उसे है वह मैं हूँ। सकोचवश की जाने वाली 'ना' की परवाह न करके मैं अपने पुरुषत्व का प्रमाण उसे देकर उसके किसी काम आता हूँ।'

यह सोच कर वह बढ़ता है। नारी की ना का अर्थ हाँ बताने वाला उसके मित्रों का दिया हुआ आश्वासन उसके पास होता है। अतः वह नारी की हर अनिच्छा सूचक क्रिया का अर्थ अपनी मर्जी से इच्छा लगाता हुआ बलात्-समागम कर डालता है। उत्तेजना उतरने के बाद उसे पश्चाताप होता है लेकिन वह अपना पश्चाताप प्रकट नहीं करता। वह सोचता है, अब जो हो गया, उससे प्रतिष्ठा का पहलू निकलना चाहिए। यह सोच कर वह अपनी उस क्रिया को अपना पुरुषोचित गुण मान कर, अपनी गर्दन पहले से अधिक तान लेता है।

o

यौन-प्रकरण मे नारी की श्रेष्ठक-भावना

मथुन काल मे नारी के मुख स निकलने वाली 'आह' को पुरुष अपनी मर्दानगी के हक म 'वाह' समझता है। सम्भोग काल म अगर वह मजिल तक ठीक तरीके से न पहुँचा हो, तो भी वह अपने मित्रा स अपने 'नयनागार की घटना सुनाते समय यही बताता है कि उसने अपनी यौन सहयोगिनी को पराजित करके, उस से तौबा कराकर ही दम लिया था।

यदि किसी नारी को अपनी सहेलियो पर अपने यौन जीवन की श्रेष्ठता का रोब डालना हो तो उसका तरीका दूसरा होता है। जब वह अपनी सहेली से अपने समागम की घटना सुनाती है तो वह अपनी मथुन सामथ्य नहीं दर्शाती, बल्कि यह प्रकट करती है कि मैं अपन प्रेमी को अत्यन्त प्रिय लगी। इतनी अधिक प्रिय कि बारम्बार मुझ से भोग करने पर भी उसका मन न भरा। यदि उसके शरीर पर नख, दन्त आदि के चिह्न बने हुए हो तो फिर बात ही क्या। अपने प्रिय की प्यारी होने के ये प्रमाण पत्र, वह छुपाने का बहाना करते-करते दिखा देती है।

लडका जब लडकी का पीछा करता है या छन्न पूवक उस स्पश करता है, या उससे छेडखानी करता है तो लडकी का इससे गौरव बढता है,

लेकिन गौरव बढ़ाने वाली वह घटना दूसरा को सुनाते समय वह अपना लहजा ऐसा रखती है जैसे वह दुश्चरित्र लडका की आवारगी की शिकायत कर रही हो। *वह घटना सुनाने का उसका वास्तविक उद्देश्य यह सिद्ध* करना होता है कि वह अब रमणी पद पा चुकी है। यानी वह इस योग्य है कि लडके उसके आस पास मँडराएँ। यदि किसी लडकी के साथ इस किस्म की अप्रिय (परो । रूप से प्रिय) घटना नहीं घटती, तो वह चाहती है कि घटित हो। स्पष्ट है कि ऐसी लडकी वही हो सकती है जिसम आक पण का अभाव हो। अत कुरूप लडकी अपने रूप की चौकीदारी अधिक सजगता से करती है ताकि ऐसी तथाकथित शिकायत का अवसर आकर अजाने म निकल न जाए। जहाँ जरा सा पल्लू भूले से किसी पुरुष से छुआ जाता है, या किसी लडके या पुरुष के मुख से ऐसा द्वि अथक शब्द निकल जाता है जिसका एक अथ यौन भेन की सीमा म भी आता हो, या किसी पुरुष का अजाने म उससे अग स्पश हो जाता है तो वह भीड इकट्ठी कर लेती हैं। इससे उसका आशय अपने प्रति की जाने वाली तथाकथित दुश्च रित्रता के कुछ प्रत्यक्ष-दर्शी गवाह एकत्र करना होता है ताकि बाद मे उस घटना के सदभ से वह अपने जानकारा तक यह सदेश पहुँचा सके—

यह मत समझो कि मुझ पर कोई कुदृष्टि नहीं डालता। मेरे रूप के चाहने वाले भी हैं। अपनी सुदरता पर नाज करने वाली मेरी सहेलियो, एक रूप के लोभी पुरुष के कृत्य को सुनो, जिसने पहले मुझे छेडा बाद में झूठ बोलकर बचना चाहा।"

बलात्कृत होना किसी भी परिपक्ववय स्त्री के जीवन की श्रेष्ठ उप लब्धि है। किसी नारी के रमणीत्व का इससे बडा प्रमाण और क्या हो सकता है कि उसस एक बार समागम करने के लिए किसी पुरुष ने जेल जाने तक का जोखिम उठा लिया। किसी मनपसन्द साहसिक-कम (Adventure) के क्रियान्वयन के समय अनुभूत होने वाले सुख जसा भय मिश्रित-सुख उसे बलात्कार काल म मिलता है लेकिन वह समाज के सामने यह स्वीकार नही करती कि उसे सुख मिला क्योकि पुरुष-सत्तात्मक समाज अगम्य यौन समागम भुक्ता नारी को बहुत से सामाजिक अधिकारा से वचित कर देता है। बलात्कार के क्षण मे यदि उसने स्वेच्छा से अपने आपको बलात्कारी के हवाले कर भी दिया हो, तो भी वह अपनी 'स्वेच्छा' को अ प्रकट रख कर, अपने आपको पीडित प्रकट करती है। उसका काम्य होने का यह अभागा गौरव उसका व्यक्तिगत रहस्य बना रहता है। बलात्कार के क्षण उसको

यदि सुख मिला भी हो तो वह अपना हित यह कहने म समझती है कि मेरे साथ जबरदस्ती हुइ। मुझे वह क्रिया अप्रिय लगी थी। लकिन मैं मजबूर थी, इसलिए मुझे बकसूर समझकर मुझे वे सब सामाजिक अधिकार दिए जाएँ, जो मर्यादा मे रहने वाली नारी को मिलत हैं।

सतीत्व-महिमा की पृष्ठभूमि

कई कबीलों मे यह रिवाज है कि विवाह के बाद पहली रात को पति अपनी पत्नी से समागम करने के बाद उसकी योनि से निकले खून से सना कपडा अपने पक्ष के सम्बन्धियो को दिखाता है ताकि व सब जान लें कि दुलहिन का कौमाय इसस पूव सुरक्षित रहा है। इस रात्रि से पूव किसी पुरुष से उसका यौन-सम्बन्ध नही रहा है। यह इसलिए कि बहुत स कबीलो म विवाह-योग्य कन्या के लिए यह अनिवाय शत है या रही है कि उसका योनि माग सतीत्व की झिल्ली स आच्छादित हो और उस माग का छेदन विवाहोपरान्त उसके पति द्वारा किया जाए। कई कबीले पति को इतना तक अधिकार दे देन रह हैं कि यदि वह चाहे तो अपनी अनुपस्थिति काल के लिए जाने स पूव अपनी पत्नी के योनि माग को ताला लगा कर, उसकी चाबी अपने पास रख ले।

सभ्य समझे जाने वाले समाज का बडा भाग कुजी ताले वाली चौकसी का अनुमोदन नही करता लकिन सतीत्व को नारी का अनिवाय गुण अवश्य मानता है। उस गुण स हीन नारी के लिए उसन सामाजिक और धार्मिक दण्ड का विधान बनाया हुआ है।

सतीत्व को जो महत्त्व मिला है, उसका कारण उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियम समझा जाता है। पुरुष कहता है—

मेरा उत्तराधिकारी वही बन सकता है जो मेरे अंश से उत्पन्न हो। मेरा ही अंश मेरी विवाहिता में प्रवेश कर सके, अन्य किसी का नहीं, इसलिए मेरे पूर्वजों ने सतीत्व-सम्बन्धी नियम बनाए थे।' अक्षत सतीत्व का पक्षधर बनने का उपयुक्त कारण जँचता नहीं है। वह इसलिए कि हम देखते हैं कि दूसरों के जनित बच्चे को गोद लेकर उसे उत्तराधिकारी बनाने की प्रथा समाज में है। इसे देखते हुए लगता है कि उपर्युक्त कथन पुरुष का तराशा हुआ बहाना है।

सतीत्व की प्रतिष्ठा स्थापित करने का वास्तविक कारण पुरुष खुल कर बताना नहीं चाहता। वह कारण यह है कि सामान्य पुरुष अपने 'पौरुष' के बारे में सदा से शंकित रहा है कि कहीं वह अधूरा न हो।

उग्र मैथुनवादी पुरुषों ने झूठ-सच बोलकर पुंस्त्व पूर्ण पुरुष का जो रूप प्रतिष्ठित किया है, उसके अनुसार कोई भी पुरुष मन से अपने आपको पूर्ण नहीं मानता और पुरुष में मैथुन सामर्थ्य का होना समाज में इतना आवश्यक समझा जाता है कि उसमें जरा सी भी कमी का आना उसके लिए डूब मरने की बात समझी जाती है। उसमें और कोई गुण न हो मात्र मैथुन क्षमता हो, तो वह गर्व से छाती तान कर चल सकता है। विपरीत इसके, उसमें अन्य गुण पराकाष्ठा पर हों, केवल इस एक गुण में कुछ कमी हो और उस कमी का रहस्य उस के शयनागार से बाहर जा खुले, तो उसकी निगाह समाज में नीची हो जाती है। उस एक कमी के कारण उसके अन्य गुणों का भी अवमूल्यन हो जाता है। यही कारण है कि अन्य क्षेत्रों की अपनी कमियाँ स्वीकार करने के लिए तो पुरुष तैयार हो सकता है लेकिन अपनी पुंस्त्व हीनता को वह खुले रूप में मानने को तैयार नहीं होता।

पुंस्त्व प्रतिष्ठा से युक्त समाज का वासी पुरुष, अपनी पत्नी की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नौकर चाकरों की सेवा ले सकता है लेकिन यौन आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसे स्वयं क्रियाशील होना पड़ता है। यदि उसकी क्रियाशीलता में कोई कमी हो तो वह दूसरों की मदद से मैथुन-क्षमता बढ़ाने वाली वाजीकर औषधियों का प्रबन्ध कर सकता है। अपनी ठण्डी रगों में गर्मी पैदा करने के लिए उत्तेजक द्रव्यों का प्रबन्ध कर सकता है लेकिन कोई गैरत वाला पुरुष शारीरिक-संसर्ग के लिए अपनी

पत्नी के निकट किसी को नहा आने देना चाहता।

यदि कोई पुरुष अपनी विवाहिता को यौन सतुष्टि देने म खुद को असमथ समझता है तो वह त्रिया चरित्र की कहानियाँ याद करने लगता है। भगवान से लौ लगाने का नाटक रच कर पत्नी का ध्यान सासारिक सुखो से हटाने की चेष्टा करता है या किसी काल्पनिक रोग से रुग्ण होकर अपने इद गिद सहानुभूति का वातावरण तयार करता है ताकि उसकी पत्नी उससे मथुन की माग न करे, बल्कि उसकी सेवा करने म अपना कल्याण समझने लगे।

यदि उसके शुक्राणु-सतति उत्पन्न करने के योग्य न हो तो वह पत्नी की गोद मे दूसरा का जाया शिशु डाल सकता है पर पुरुष का वीय टस्ट ट्यूब के माध्यम स ला कर अपनी पत्नी की कोख उवजाऊ बना सकता है, लेकिन वह उस शुक्राणुधारी पुरुष को अपनी पत्नी स समागम करने का निमन्त्रण नही दे सकता। यदि वह ऐसा होन देता है तो मौजूदा पुरुष सत्तात्मक-समाज उसे गैरतमन्द मानन को तयार नही होता।

पर पुरुष की छाया से अपनी पत्नी को बचाने की चेष्टा हर पुरुष करता है। वह इसलिए कि हर पुरुष का यह आशका रहती है कि कहीं पर पुरुष उसे मेरे द्वारा दिए गए यौन सुख से अधिक यौन तुष्टि न दे दे। अब तक मैंने सच झूठ बोलकर अपने पौरुष का अपनी यौन शक्ति का जो मानक रूप अपनी पत्नी की निगाह म बनाया है, उसे ठेस न पहुँचे।

अक्षत योनि कन्या से पुरुष विवाह करना चाहता है वह इसलिए कि ऐसी कन्या इस जानकारी से अनभिज्ञ होती है कि पुरुष से प्राप्त होने वाला मानक-सुख क्या होता है। प्रथम सहवास के समय उसके योनि माग से निकला रक्त देखकर नव विवाहित पुरुष को यह शान्ति प्राप्त होती है कि वह कन्या मुहरबन्द डिब्बे की तरह सुरक्षित उसकी शय्या तक पहुँची है। उसने अब तक किसी पुरुष का आनन्द नहीं लिया। ऐसी कन्या पाकर वह मन ही मन सोचता है—

अपनी यौन-सामथ्य के अनुसार मैं उसे जो यौन सुख दूगा, उसे ही वह सुख की पराकाष्ठा मान कर मुझ पर श्रद्धा रखेगी। यदि मैं उसे थकाने से पहले थक जाऊँगा तो जबानी जमा-खच द्वारा मैं उसे अवगत करा सकूगा कि ऐसा सबके साथ होता है और वह मेरी बात का तब तक यकीन करती रहेगी जब तक वह दूसरे पुरुष के सम्पक म न आएगी। इसलिए कोई ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए जिससे वह दूसरे पुरुष के ससग म न आ सके।'

हर औसत पुरुष को इस प्रकार के प्रबंध की आवश्यकता होती है। साहित्य की सारी विधाओं की रचना पुरुष के हाथ में होती है इसलिए वह सतीत्व को नारी का अनिवार्य गुण मनवाने में सफल हो जाता है। जीवन भर वह अपनी विवाहिता को पर-पुरुष के पुंसत्व से बचाता है और वह कोशिश करता है कि उसके मरने के बाद भी उसकी पत्नी किसी अन्य पुरुष के संसर्ग में न आए। अपने जीवन काल में ही वह ऐसी व्यवस्था कर जाना चाहता है जिससे उसकी पत्नी को उसके बाद भी किसी पुरुष द्वारा वह यौन सतुष्टि न मिल सके, जो वह उसे अपने जीवन-जी न दे सका। 'मैं जीवन भर पतिव्रत धर्म निभा कर ठगी जाती रही,' यह बात यदि पति के मरने के बाद भी पत्नी द्वारा फैलाई गयी तो जो यश पति ने जीवनकाल में कमाया था, उसके मरणोपरान्त उस यश में कमी आ जाएगी।

यह चिंता वास्तव में उसकी व्यक्तिगत चिंता नहीं पूरे पुरुष-समाज की चिन्ता है। पतिव्रत धर्म के प्रति नारी की निष्ठा में कमी का होना मरने वाले के बाद के बचे रहे पुरुषों के लिए हानिप्रद है इसलिए बाकी के बचे सारे पुरुष अवसान प्राप्त पुरुष की पत्नी के हित की न सोच कर, अपने पुरुष समाज की हित रक्षा के लिए नारी की इच्छाओं का बलिदान कर देते हैं। धर्म की दुहाई देकर या किसी वसीयत की शर्त लगा कर, हर औसत पुरुष, जहां तक उसका बस चलता है यह प्रबंध कर जाता है कि उसकी पत्नी या तो उसके पीछे सती हो जाए या वह किसी पुरुष को वधानिक ढंग से न भोग सके।

नये समाज में नारी सतीत्व की उतनी महिमा नहीं रही जितनी कुछ शताब्दियों पूर्व थी। इस समाज का पुरुष कुछ उदार सा दिखता है। उदार इसलिए कि वह नारी समता का दम तो भरता है लेकिन उसके पूर्वजों ने उसे यौन क्षेत्र में स्वेच्छाचार की जो छूट दी हुई है, उसका उपयोग भी करना चाहता है। अपने आपको समतावादी प्रकट करने के लिए उसे या तो अपने स्वेच्छाचार पर रोक लगानी पड़ती है या नारी पर से रोक हटानी पड़ती है। अपने स्वेच्छाचार पर वह रोक नहीं लगा सकता इसलिए नारी से सतीत्व की मांग करते हुए वह झिझकता है लेकिन ऊपर से इस मामले में उदार दिखने वाले पुरुष की मन में यह कामना होती है कि उसकी भार्या के सामने यौन-सहकर्मी का चेहरा एकमात्र उसी का हो।

वैसे पत्नी भी पति से एक-पत्नी-व्रत की मांग करती है। उसकी मांग के पीछे यही आशंका होती है कि कहीं उसके पति को (या प्रेमी का) दूसरी

नारी से प्राप्त होने वाला यौन सुख चला न हो जाए। वह सोचती है कि यदि उसके यौन-सहधर्मी पुरुष को उससे प्राप्त होने वाले सुख से अधिक यौन सुख किसी अन्य नारी से प्राप्त हो गया तो हो सकता है कि वह पुरुष उससे विमुख हो जाए। उसकी यह सोच उसके स्वभाव को शंकित बना देती है। वह अपने पति को पर नारियों के संसर्ग से बचाने की चेष्टा करती है, लेकिन उसकी सामाजिक स्थिति इस योग्य नहीं होती कि वह अपनी चाह के मुताबिक पुरुष को ढाल सके। जब वह अपनी इस चेष्टा में विफल रहती है तो डाह की अभ्यस्त बनकर स्व-पुरुष के आसपास पर नारियों के आने जाने पर रुकावट लगाना चाहती है। यह प्रयास करना उसका काम है। उसका यह प्रयास सफल होता है या विफल यह उसके बस की बात नहीं होती।

o
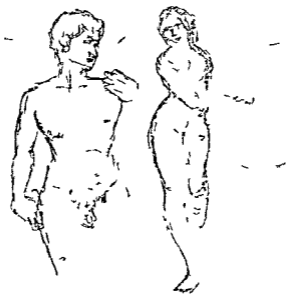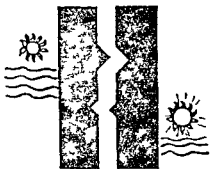
यौन-आकर्षण के मूलाध

आकर्षण के मूल-तत्त्व

जीव भौतिक-तत्त्वा का पुज है। जीव रूपी जिस इकाई म जिस तत्त्व की कमी होती है इस तत्त्व की पूर्ति के लिए वह अपनी जून की उस दूसरी इकाई की ओर आकृष्ट होता है जिसमे उस तत्त्व की अधिकता हो।

अनुमान है कि सृष्टि रचना-युग के प्रथम चरण म कुछ इकाइया म तेज गुण की अधिकता हो गइ होगी और कुछ म सोम गुण की। तेज गुण प्रधान इकाइ अपन मूल अणु (बीज अणु) का अपने म रख सकने मे असमर्थ हुई होगी। उसकी इस असमर्थता के कारण उसकी शारीरिक-सरचना विक्षेप शील बन गयी होगी। सोम गुण प्रधान इकाई मे उस मूल अणु के रहने और पनपने के लिए वातावरण अधिक उपयुक्त रहा होगा। इससे उसका शारीरिक गठन ग्रहणशील बन गया होगा। एक ही जून की दो भिन्न गुण प्रधान इकाइया के अगो की एक दूसरे के लिए पूरक ढग की सरचना उन दोना के लिए परस्पर आकर्षण का कारण बनी होगी। विक्षेप शील और ग्रहण शील—इन दो भिन्न प्रणालियो वाले जीवा को बाद में 'नर' और 'मादा का अलग अलग नाम मिला होगा।

शुरू मे नर मादा की शारीरिक रचना का यह भेद बहुत स्पष्ट न रहा

होगा। सृष्टि रचना युग के प्रारम्भ चरण में उन दोनों के कार्यक्षेत्र अलग अलग हो जाने के कारण वह फर्क और भी अधिक स्पष्ट होता चला गया होगा। श्रम भरे काम करते रहने के कारण या रण-कौशल में निपुणता प्राप्त करने के कारण पुरुष के कन्धे चौड़े तथा पसलियाँ व हड्डियाँ अधिक कठोर बनी होगी और नारी के पेट में गर्भाशय होने के कारण और उसकी नाभि के ऊपर दुग्ध भण्डार की विद्यमानता के कारण नारी के नितम्ब और वक्ष अधिक पुष्ट बन गए होंगे। उसका कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित होने के कारण उसकी पसलियाँ और हड्डियाँ कम कठोर रही होगी। नर और नारी के मूल अनुकूलन के माध्यम अलग अलग हो जाने के कारण उनके शरीर की रोमावली एक सी न रही होगी।

घनी रोमावली से भरे कठोर शरीरधारी के लिए विरल रोमावली युक्त कोमल शरीर उत्सुकता की वस्तु रहा होगा और कोमल शरीरधारी के मन में कठोर शरीर के प्रति जिज्ञासा बनी होगी। उत्सुकता या जिज्ञासा उन्हें एक दूसरे के निकट लाने का कारण बनी होगी। निकट से निकटतम होते हुए, इन दोनों भिन्न गुण प्रधान इकाइयों को एक नवीन अनुभूति हुई होगी। वह अनुभूति उनके लिए सुखद रही होगी। फलतः कोमलांगिनी को अपने कठोर अंक में भर लेने के लिए पुरुष बेताब हुआ होगा और कठोरांगी पुरुष की अंक शायिनी बनने में नारी को असीम सुख मिला होगा। अपने जिन विषम गुणों के कारण वे एक दूसरे का आकृष्ट कर पाए होंगे उन गुणों का विकास करने और उस विकास को पराकाष्ठा तक पहुँचाने की चेष्टा करते हुए नर और नारी, दोनों की शारीरिक रूप रेखा एक-दूसरे से बिलकुल अलग हो गयी होगी।

०

फ़ैशन का आधार

फैशन का शाब्दिक अर्थ है—लोक रीति। जीवन के हर क्षेत्र की अपनी अलग लोक-रीति होती है लेकिन यहाँ यौनाकर्षण विकास से सम्बन्धित लोक रीति की चर्चा होनी है।

कोई भी फशन निराधार नहीं चलता। हर फैशन शरीर की मूल आवश्यकताओं का अनुमोदन करता है। नारी सौन्दय के विकास के लिए प्रचलित सभी फ़शना की तह मे नारी का मातृत्व-गुण स्पष्ट होता है। वक्ष स्थल और नितम्ब की पुष्टता मे नारी के मातृत्व-गुण के बाह्य चिह्न हैं। मातृत्व गुण का तीसरा चिह्न आगे को निकला हुआ पेट भी होता है लेकिन जहाँ वक्ष और नितम्ब की पुष्टता नारी के आकर्षण का कारण बनती है वहा नारी के विशालोदर होने की विशेषता उसे बहुत स समाजा म आकर्षणहीन प्रकट करती है। उसका कारण शायद यह है कि गर्भवती होना नारी का सामयिक लक्षण है। एक समय में जो नारी सगर्भा है दूसरे समय मे वही विगर्भा भी होती है। नारी का गर्भिणी रूप और उसकी गर्भहीनता की अवस्था पुरुष के सामने थोड़े थोड़े काल के बाद आती रहती है इसलिए उसके गुणग्राही पुरुष के सामने यह विकल्प रहता है कि

वह नारी के उन दोनों रूपों में से किसी एक को अधिक पसन्द कर ले। लेकिन उसके नितम्ब प्रदेश और वक्ष की पुष्टता वैकल्पिक नहीं है। आयु की एक विशेष सीमारेखा लाघते ही वह पुष्टता हर सामान्य नारी को अनिवार्यत प्राप्त हो जाती है। अत बिना पुष्ट नितम्ब और पुष्ट वक्ष वाली नारी की पुरुष कल्पना नहीं कर सकता। इसलिए इन दोनों अगों की पुष्टता तो नारी के मानक सौन्दर्य के लिए आवश्यक मान ली गयी है लेकिन सगर्भा और विगर्भा इन दो वैकल्पिक अवस्थाओं म से नारी का विगर्भा रूप पुरुष द्वारा अधिक पसन्द किया गया है। एक तो इसलिए कि पेट के घटे रूप मे वक्ष और नितम्ब की विशालता अधिक स्पष्ट होती है। दूसरे इसलिए कि जिस नारी म भ्रूण पल रहा हो वह पुरुष की यौन सहयोगिनी बनने म उतनी क्रियाशीलता नहीं दिखाती जितनी विगर्भा नारी दिखा सकती है। नारी का वह रूप जो यौन-सहयोगी बनने के लिए अधिक उपयुक्त हो पुरुष की निगाहों मे अधिक खुब सकता है।

जनसख्या के विस्तार की समस्या के कारण अब मातृत्व नारी के लिए अनिवार्य गुण नहीं रहा लेकिन मातृत्व के कारण अगों के विकास के प्रयत्न जारी है। गर्भाशय म भ्रूण का विकास हो रहा हो या न लेकिन उसके आवरण का घेरा (नितम्ब प्रदेश) गर्भवती के नितम्ब जैसा बडा होना चाहिए। छाती म दूध हो या न हो लेकिन दुग्ध घटों का आकार भरे पुरे दुग्ध घट से कम न होना चाहिए।

नारी के फैशनों की दिशा निश्चित करने वाली प्रेरक शक्ति पुरुष है[1] पुरुष स्वय अपेक्षाकृत सपाट शरीरधारी होता है इसलिए सपाट शरीर के प्रति उसकी आसक्ति नहीं होती। वह सपाट से अलग किस्म के शरीर के प्रति आकृष्ट होता है। जिसका फल यह होता है कि नारी पुरुष की पसन्द के अनुसार अपने शरीर को वक्र बनाने की दिशा म प्रयत्न करने लगती है।

जिस प्रकार पुरुष की पसन्द नारी के फैशनों की दिशा निर्देशन करती है उसी प्रकार नारी की पसन्द पुरुष के फैशनों की भी दिशा निश्चित कर सकती है लेकिन नारी को पुरुष-सौन्दर्य के बारे म खुलकर अपनी राय देने का अवसर नहीं मिलता। पुरुष शत्रुओं का हरा कर नारी का हरण कर लाए या उसे स्वयवर में जीत कर लाए या उस पर अपनी सम्पत्ति, वश

1 इसी पुस्तक के एक प्रकरणानुभाग 'कामांग प्रदर्शनेच्छा पर पुरुष-सत्ता का प्रभाव' भी देखें।

अथवा पद का रौब गाँठकर ले आए, नारी उसे पसन्द करने पर मजबूर होती है। यदि वह उसे पसन्द न करे तो भी उसकी आश्रिता होने के कारण वह अपनी अनिच्छा को खुल कर प्रकट नहीं कर सकती।

पुरुष ने चाहे किसी भी तरीके से नारी को पाया हो, वह अपने कब्जे में आयी नारी का हृदयेश्वर बनने की कामना अवश्य करता है। वह अपनी आश्रिता नारी के मुख से यह हर्गिज नहीं सुन सकता कि पर पुरुष आकर्षण के मामले में उससे अधिक श्रेष्ठ है। पर पुरुष की प्रशंसा करने वाली नारी को उसका आश्रयदाता पुरुष शंका की दृष्टि से देखने लगता है। अतः समझदार नारी पुरुष सौंदर्य के बारे में अपनी बेलाग राय को दबाए रखने में अपना कल्याण अधिक समझती है। नारी की यह चुप्पी पुरुष को उसके मानक सौंदर्य का ज्ञान नहीं होने देती। पुरुष अपने तौर पर अपने में यौनाकर्षण के लक्षणों की खोजबीन करता रहता है। इस खोजबीन से उसे ज्ञात होता है कि उसके चेहरे पर बालों का होना उसके यौनाकर्षण के लिए आवश्यक है, लेकिन वे बाल कटे होने चाहिएँ, अधकटे या बिना कटे, इस बारे में नारी-समाज के एकमत होने का प्रमाण उसे नहीं मिलता। इस मतैक्यहीनता की अवस्था के कारण पुरुष कभी दाढ़ी रख लेता है, मूँछें कटा देता है, कभी मूँछें रहने देता है दाढ़ी का सफाया कर देता है और कभी दोनों रहने देता है या दोनों ही साफ करा देता है।

हाँ, पुरुष के विशाल स्कन्ध की प्रतिष्ठा हर जगह है। कवियों तक ने इस गुण की विशेष प्रशंसा करके इसे पुरुष के मानक सौंदर्य का आवश्यक लक्षण सिद्ध कर दिया है।

विशाल स्कन्ध की प्रतिष्ठा तब की देन है जब प्रत्येक पुरुष के लिए सैनिक होना आवश्यक था। युद्ध में लड़ते रहने या युद्ध के लिए पूर्वाभ्यास करते रहने से पुरुष के कंधे स्वतः चौड़े हो जाते थे। लेकिन आज, जब कि युद्ध की जिम्मेदारी वेतनभोगी सैनिकों के जिम्मे आ गयी है, प्रत्येक व्यक्ति को उस कला में प्रवीण होने की आवश्यकता नहीं रही लेकिन पुरुष के चौड़े कंधों की प्रतिष्ठा आज भी है। इस प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए हीन स्कन्ध वाले पुरुष कोट सिलवाते वक्त उसमें पैड लगवा लेते हैं ताकि उनके स्कन्ध वीरोचित लगें और उस कोट को बेमौसम पहने रखना, वे फैशन के मुताबिक समझते हैं।

स्त्री कवियों द्वारा पुरुष के नख शिख-वर्णन का रिवाज समाज में प्रचलित नहीं है, इसलिए पुरुष अपने मानक सौन्दर्य से अनजान है, लेकिन

नारी सौन्दर्य के बारे में पुरुष की राय कई विधाओं द्वारा खुलकर प्रकट हुई है। कवियों द्वारा साहित्य में, मूर्तिकारों द्वारा प्रस्तर प्रतिमाओं में और वैरागियों द्वारा नारी निन्दा के प्रकरणों में, नारी-सौन्दर्य का मानक रूप स्पष्ट होता है। कदली स्तम्भ के समान चिकनी जाँघें, कलश के सदृश भरे हुए कुच और सितार की तुम्बी के समान विशाल नितम्ब, नितम्ब और वक्ष के बीच का समाजक अंग कमर इतनी क्षीण कि अणुवीक्षण यन्त्र के बिना दिखाई ही न दे—नारी सौन्दर्य के बारे में अतिशयोक्तियों से भरे इस प्रकार के मनस्य के होते हुए नारी अपने मानक सौन्दर्य के प्रति बेखबर नहीं हो सकती।

यहाँ नारी सौन्दर्य के जिस मानक रूप का चित्रण हुआ है, वह यदि सार्वदेशिक न भी हो, तो बहुदेशीय अवश्य है। नारी सौन्दर्य के कुछ स्थानिक मान भी होते हैं। विविधतामय इस संसार में कुछ कबीले ऐसे भी हैं जहाँ पतली कमर की बजाय विशालोदर की अधिक प्रतिष्ठा है। उन्नत-स्तनों की बजाय ढलकती छातियों के चाहने वाले भी विश्व के किसी न किसी भाग में बसते हैं। एक स्थानिक फैशन केवल उन जातियों में प्रतिष्ठित होते हैं जिनका दूसरी दूर की जातियों से मेल जोल नहीं होता। अपने छोटे से समाज की आवश्यकताओं के अनुसार वे नारी के सौन्दर्य के सम्बन्ध में अपनी धारणाएं बना लेते हैं। उन धारणाओं का उनके छोटे से समाज से बाहर के बहत्तर समाज में कितनी प्रतिष्ठा है यह जानने का उन्हें चिन्ता नहीं होती। चिन्ता हो भी क्यों! वहाँ की नारी के अपने कबीले का छबीला युवक उसके पड़े हुए पेट और ढलके कुचों को देखकर मर मिटने को अगर तैयार होता है तो उस कबीले से बाहर की दुनिया की परवाह वह नारी करे भी तो क्या?

पुराने चीन में स्त्रियों के पैरों का अत्यन्त छोटा होना भी सौन्दर्य का स्थानिक गुण था। अनुमान है कि उस रिवाज की पृष्ठभूमि में छुपा अभीष्ट शायद नितम्ब के उभार को अधिक स्पष्ट करना रहा होगा। छोटे से पाँव विशाल शरीर के भार को संतुलित रूप से सकने में असमर्थ होते होंगे। उस असन्तुलन के कारण कमर की लचक और नितम्ब की लहक अधिक स्पष्ट हो जाती होगी। जान पड़ता है कि नारी की चाल में वैसी लचक और लहक लाने के लिए छोटे पाँव के पर्याय के रूप में ऊँची और नुकीली एड़ी के जूते का आविष्कार किया गया होगा।

त्वचा-वर्ण और दक्-अनुभूति

"शरीर के अन्तरंग का दर्शन दृक् अनुभूति के लिए सुखद है। दक् अनुभूति के लिए जो सुखद है, वह आकर्षक है।"

ऐसा कोई उपाय जो त्वचा की आड में लहराते रक्त का आभास अन्य व्यक्तियों को दे सके, वह यौनाकर्षण वर्द्धक उपाय बन सकता है। सौंदर्य-वर्द्धक सभी प्रसाधन शरीर की रक्तिम आभा को झलकाने या उस आभा की नकल प्रस्तुत करने में सहायता देते हैं। नर और नारी एक दूसरे के उन अंगों के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट होते हैं जिन अंगों से रक्तिम आभा अधिक झलकती है। नर नारी का एक दूसरे के होठों के प्रति विशेष अनुराग होने का कारण उनमें रक्तिम आभा का होना है।

समाज में कृष्ण वर्ण की अपेक्षा गौर-वर्ण की प्रतिष्ठा अधिक है। इस प्रतिष्ठा का कारण यह है कि गौर वर्ण त्वचा द्वारा मानव की अन्तरंग-दर्शन की कामना कुछ सीमा तक पूरी होती है। गौर-वर्ण व कृष्ण-वर्ण धारण के नियामक कुछ कोष हमारी त्वचा की पर्तों में होते हैं जिन्हें रंजक-कोष (पिगमेंटेशन सेल्ज) कहा जाता है। यदि वे कोष त्वचा की पर्तों में न हों या विघन हों तो त्वचा पारभासक रहती है। उस पारभासक त्वचा में से

शरीर की भीतरी रक्तिम आभा झलकती रहती है। यदि रजक-कोष त्वचा की पर्तों म घने हो तो त्वचा पार विभासक बन जाती है। रक्तिम आभा उस पार विभासक त्वचा म स नही झलक सकती या बहुत कम झलकती है। फलत व्यक्ति काला या गहुआ दिखाई देने लगता है।

त्वचा की पर्तों म रजक कोपों के कम या अधिक होने के कारण अनेक हैं। उन अनेक कारणो म सौर प्रकाश मुख्य है। शरीर के भीतरी सम्धान के लिए सूय का प्रकाश जितना जाना अनुकूल होता है उससे अधिक यदि चला जाए तो वह प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न करता है। अत जिस वग या जिस देश के लोगो को नग्न बदन धूप म काम करना पडता है, उनके रजक कोष निर्माता सस्थान को अधिक सक्रिय हो जाना पडता है ताकि त्वचा म से छन कर उतना ही प्रकाश भीतर जाए जो प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न न करे। ठण्डे प्रदेशो म जहाँ सूय का प्रकाश अपेक्षाकृत कम तीखा होता है, भारी कपडे पहनने के कारण कम-तीखा भी त्वचा तक नही पहुँच पाता, वहाँ के निवासियों का रजक कोष निर्माता-सस्थान निष्क्रिय प्राय रहता है।

वण नियामक यह सस्थान शारीरिक सस्थान को प्रतिकूल स्थिति से बचाने के लिए चेष्टा करता है। उसकी चेष्टा के फलस्वरूप मानव को गोरी, पीली या काली चमडी का धारक बनना पडता है लेकिन आवश्यक नही कि मानव की सौ दर्यानुभूति को वण नियामक-सस्थान का फसला हर दफे पसन्द आए। जब कभी उसे वह फसला पसद नहीं आता तो वह उन कृत्रिम साधनो का आविष्कार करता है, जिनसे बनावटी रक्तिम आभा उसके शरीर से झलक सके।

०

प्रकरण—११

मैथुन
का मानक-रूप
और अ-मानक मैथुन

स्वाभाविक-मैथुन और अस्वाभाविक-मैथुन

बाल्यावस्था से किशोरावस्था की ओर बढ़ते हुए मानव की अतिरिक्त-शक्ति जब सघनता की एक विशेष सीमा में अधिक बढ़ जाती है तो वह विसर्जन के मार्ग की खोज करती है। उस खोज का नाम हमने 'यौन चेतना' रख लिया है। यौन चेतना के उदित होने के उस काल में उस सघनता से मुक्ति पाने के लिए शक्ति विसर्जित करने का जो उपाय जिस व्यक्ति को सूझ जाता है वह व्यक्ति उस उपाय का अभ्यस्त बन जाता है, लेकिन विसर्जन के वे सभी उपाय समाज में मान्य नहीं समझे जाते। विसर्जन के जिन उपायों पर समाज अपनी स्वीकृति दे देता है उन्हें स्वाभाविक शेष को अस्वाभाविक मान लिया जाता है।

अतिरिक्त शक्ति का विसर्जन सामान्यतः उत्तेजना रूपी मार्ग द्वारा होता है। नर मादा के पारस्परिक मैथुन को यौनोत्तेजना के शमन का स्वाभाविक माध्यम माना जाता रहा है किन्तु नये यौन विज्ञान की मान्यता के अनुसार यौनोत्तेजना से मुक्ति पाने के लिए ऐसी कोई भी क्रिया अस्वाभाविक नहीं समझी जाती जिसे दो यौन-सहकर्मी पारस्परिक यौन-सन्तुष्टि के लिए आवश्यक समझते हैं।

अपनी पसन्द की किसी भी प्रक्रिया द्वारा यदि दो इकाइयाँ यौन सन्तुष्टि प्राप्त करती हैं तो समाज आमतौर पर उन दोनों के सुख मे बाधा नही डालता। वह इसलिए कि जब दो इकाइयाँ सचमुच एक दूसरे म सुख प्राप्त करती हैं तो उनको एक दूसरे से कोइ शिकायत नही होती। जब समाज के कानो तक कोई शिकायत ही नही पहुचती तो बाधा पडन का सवाल नही उठता। समाज के काना म बात पहुँचती हो तब है जब उन दो इकाइया म स किसी एक का शोषण होता है या उन दोना की सुख प्राप्ति से किसी तीसरे का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अहित होता है। उस समय समाज को उन दो इकाइया के सुख म बाधा डालने के लिए बाध्य होना पडता है। तब समाज उस इकाई का पक्ष नही लेता जिसे सुख मिलता है बल्कि उसका लेता है जिसे असुख की स्थिति म से गुजरना पडता है या जिसका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अहित होता है।

कौन शोषक है और कौन शोषित, इस बात का फैसला करना समाज के लिए तब तक कठिन होना है, जब तक यौनोत्तेजना से निवृत्ति पाने का कोई मानक उपाय निश्चित न किया गया हो। उत्तेजना से मुक्ति पाने के किसी एक उपाय को मान्यता देकर ही वह अन्य उपायो को अमान्य ठहराया जा सकता है।

अब तक बहुमान्य उत्तेजना शमन उपाय नर नारी के दरम्यान होने वाला मथुन है। अन्य किसी भी मथुन पद्धति को बहुसख्यको की ओर से मान्यता नहीं मिली। इस मथुन पद्धति को अधिक मान्यता क्या मिली अन्य पद्धतियों को क्या न मिल सकी, यह आग की पक्तियो का विषय है।

मैथुन के मानक-रूप की आवश्यकता

हर व्यक्ति की इच्छा होती है कि उसकी यौन रुचि को पैमाना मान कर अन्य सब व्यक्तियों के यौन व्यवहारों को उसी पैमाने के आधार पर परख कर मान्य अमान्य का विचार किया जाए। यदि वह स्वयं पशुगामी है, हस्त मैथुनाभ्यस्त है, विपरीतलिंग गामी है या समलिंग गामी है तो वह अपनी यौनोत्तेजना शमन-पद्धति का औचित्य सिद्ध करने के लिए कई संहिताओं के हवाले देता है, लेकिन समाज हर व्यक्ति की रुचि और सुविधा के अनुसार अपने नियमों में हेर-फेर-बदल नहीं कर सकता।

मैथुन का मानक रूप एक ही प्रतिष्ठित किया जा सकता है। उसे 'मानक' मानने से पहले व्यक्ति और समाज की सभी आवश्यकताओं पर समाज को विचार करना पड़ता है। एक बार मनन चिंतन के बाद जो मानक-रूप स्थिर हो जाता है उसकी रक्षा करना समाज का कर्त्तव्य बन जाता है ताकि अपनी सामयिक सुविधा के लिए लोग उस मानक रूप को विकृत न कर सकें।

मानक रूप स्थिर करना और फिर उस रूप की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहना केवल इसी क्षेत्र के लिए ही आवश्यक नहीं। जीवन के हर क्षेत्र में

'मानक' की रक्षा के लिए विधान रचे जाते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण यौनेत्तर क्षेत्र का प्रस्तुत है—

हर राष्ट्र का अपना एक राष्ट्रीय ध्वज होता है। भारत का राष्ट्रीय ध्वज तिरंगा है। आम बोलचाल में तिरंगा झण्डा कह देना काफी हो सकता है, लेकिन फ्लैग कोड इण्डिया में तिरंगे की रूपरेखा इस प्रकार वर्णित है— उसके तीनों रंगों की पट्टियाँ बराबर बराबर ऊँचाई की हों। नारंगी रंग की पट्टी सबसे ऊपर हो, सफेद रंग की बीच में और हरे रंग की सबसे नीचे हो। झण्डे की ऊँचाई से लम्बाई ठीक ड्योढ़ी हो। उसकी सफेद पट्टी के केन्द्र में अशोक चक्र हो। अशोक चक्र का रंग समुद्री नीला हो और उस चक्र की फाकें चौबीस हों।

यदि कोई सुविधा प्रेमी झण्डे की लम्बाई चौड़ाई में फेर बदल करना चाहे या अशोक चक्र का रंग बदलना चाहे या उस चक्र की फाँकें चौबीस की बजाय तेइस या पच्चीस रखना चाहे तो फ्लैग कोड इण्डिया के अनुसार उसका यह कार्य अपराध है। हो सकता है कि सुविधा प्रेमी की निगाह में फ्लैग कोड सम्बन्धी ये नियम बेकार हों लेकिन राष्ट्र की निगाह में ये नियम आवश्यक हैं। यदि झण्डे की रूपरेखा को हर व्यक्ति की रुचि और पसन्द पर छोड़ दिया जाए तो उसका एक मानक रूप स्थिर नहीं रह सकता।

अनियमितता को रोकने के लिए नियम बनाने पड़ते हैं। बिना कोई नियम बनाए समाज यह फैसला नहीं कर सकता कि क्या नियमपूर्वक है और क्या नियम विरुद्ध है?

मैथुन के बारे में भी नियमित अनियमित, नैतिक अनैतिक, स्वाभाविक अस्वाभाविक व उचित अनुचित का निर्णय तब तक नहीं हो सकता, जब तक मैथुन का एक मानक रूप स्थिर न हो जाए।

कुछ असामान्य व्यक्ति यौन क्षेत्र में समाज का दखल सहन नहीं करना चाहते। वे व्यक्ति विविधतामय संसार का एक अंग तो बने रह सकते हैं लेकिन वे व्यक्ति समाज का आदर्श नहीं बन सकते। उनकी रुचि को कम्पास समझ कर पूरे समाज के यौन व्यवहारों को उसके अनुसार निर्देशित नहीं किया जा सकता। कम्पास तो उस एक मानक रूप को समझा जा सकता है जिसे मान्यता देने से पहले उससे सम्बन्धित सभी वैयक्तिक हित के और सामाजिक हित के पहलुओं पर भली भाँति विचार कर लिया गया हो।

सामाजिक दृष्टिकोण से मानक मैथुन वह हो सकता है जिससे सामाजिक गठन बना रह सके और जाति-सम्वर्द्धन होता रहे।

वैयक्तिक दृष्टिकोण से मैथुन का मानक प्रकार वह हो सकता है, जिससे अत्यन्त तीव्र यौन सुख मिल सके।

इन दोनों दृष्टिकोणों को सामने रखते हुए मैथुन की मानकता पर विचार करना है।

ऐसी कोई भी क्रिया, जिसकी पूर्णता के लिए दूसरे की आवश्यकता पड़ती है या दूसरे पर उस क्रिया का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़ता है वह वैयक्तिक नहीं रहती, सामाजिक हो जाती है[1]।

यौनोत्तेजना के शमन के लिए मानव को अपने घेरे से निकल कर दूसरे के घेरे में प्रवेश करना पड़ता है या दूसरे को अपने घेरे में आमन्त्रित करना पड़ता है। उन दोनों का एक-दूसरे के जीवन पर प्रभाव पड़ता है। उन *दोनों के मिलन का समाज के दूसरे सदस्यों पर भी प्रभाव पड़ता है।*

सामाजिक घेरे को अधिक विस्तृत करने के लिए, यानी अन्य समाजों की दूरस्थ इकाइयों को एक-दूसरे के निकट लाने के लिए विवाह या उससे मिलते जुलते किसी अनुबन्ध की आवश्यकता होती है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी मनपसन्द-पद्धति से अपने हाथ के माध्यम से, या अपने मवेशियों या समलिंगी इकाइयों के माध्यम से अपनी उत्तेजना शान्त कर ले तो दूरस्थ इकाइयों को निकट लाने का एक अच्छा आधार समाज के हाथ से निकल जाता है।

प्राचीन यूनान में पुरुष का पुरुष के साथ विवाह होना प्रचलित था। (स्त्री के साथ स्त्री के विवाह का प्रसंग पढ़ने-सुनने में नहीं आया) लेकिन वह पद्धति अधिक देशों में प्रचलित न हो सकी, बल्कि उसी यूनान में भी कुछ देर के बाद खत्म हो गयी। विषम लिंग गमन-पद्धति प्रचलित हो गयी। विषम लिंग-गमन-पद्धति एक ऐसी पद्धति है जो अधिक देशों में अधिक समय तक प्रचलित रही है। उसका कारण यह है कि इसी एक पद्धति से समाज की जाति सम्वर्द्धन की आवश्यकता पूरी होती रहती है।

आज के युग में समाज को जाति-सम्वर्द्धन की अपेक्षा सन्तति निरोध

---

१ देखें इसी पुस्तक के प्रकरण 'यौन प्रवृत्ति और उस पर सामाजिक प्रभाव' का अनुभाग 'यौन प्रवृत्ति पर ही अधिक प्रतिबन्ध क्यों ?'

की आवश्यकता महसूस होने लगती है। इसके बावजूद विषम लिंग गमन प्रणाली की लोकप्रियता में फर्क नहीं आया। वह इसलिए कि वैयक्तिक आवश्यकता को सामने रखते हुए मानव मैथुन वही हो सकता है, जिससे प्रगाढ़ स्पर्श सुख की अनुभूति अत्यन्त तीव्र हो सकती हो।

विषम लिंग गमन से जितना तीव्रतर अनुभूति सुख मिल सकता है अन्य किसी भी मैथुन विधि से उतना तीव्र सुख नहीं मिल सकता। नर और मादा का अपने अपने युवसुलभ गुणों को पराकाष्ठा तक पहुँचाने का एक मात्र ध्येय उस तीव्र सुख को तीव्रतम बनाना होता है।

विषम गुणों के प्रति आकृष्ट होने के कारणों पर पिछले प्रकरण[1] में विचार हुआ है। यह विषमता यौन सुख के लिए इतनी जरूरी है कि सम लिंग गामी व्यक्ति भी उस विषमता की उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि वह वातावरण की प्रेरणावश या अपने किसी मानसिक भय के कारण सम लिंग गामी बनता भी है तो उसकी चेतना उसे इतना अवश्य बता देती है कि उसे अपना यौन सहयोगी चुनने के लिए अपने सम लिंगियों में से किन विशेषताओं से युक्त व्यक्ति को चुनना है।

हर पुरुष में कुछ नारी सुलभ गुण (सोम गुण) और हर नारी में कुछ पुरुष सुलभ-गुण (तेज गुण) होते हैं। उन गुणों के अतिरेक के कारण उनकी शारीरिक रूपरेखा में परिवर्तन दिखाई देता है। आकर्षण के इन मूल तत्त्वों से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दावली से व्यक्ति परिचित हो या न लेकिन हर व्यक्ति समाज में विचरण करते हुए इन गुणों को जानता, समझता है। समलिंग गामी का जहाँ तक बस चलता है वह अपने से विपरीत गुण प्रधान समलिंगी को ही अपना यौन पूरक चुनता है। दो समलिंग गामी पूरकों में आमतौर पर एक सोम गुण प्रधान होता, दूसरे में तेज गुण की प्रधानता होती है। उन दोनों में आमतौर पर कर्ता तेज गुण प्रधान बनता है और कारयिता सोम गुण प्रधान होता है।

इस विवरण से आशय यह व्यक्त करना है कि अत्यन्त तीव्र स्पर्श सुख पाने के लिए विषमता के विकास की आवश्यकता पड़ती है। नर और नारी नाम की दो इकाइयाँ अनन्त काल से अपने अपने युवसुलभ गुणों का विकास करने में लगी हुई हैं। उनके परस्पर मिलन से प्राप्त होने वाला सुख ही अति सुख बन सकता है। अतः इस प्रकार वैयक्तिक सुख के दृष्टिकोण तथा

---

१ देखें यौन-आकर्षण के मूलाधार।

सामाजिक आवश्यकता के दृष्टिकोण से 'विषम लिंग गमन' ही मानक-मथुन बन सकता है और अधिकतर समाजों में अधिक समय तक यही मथुन वध या प्रचलित रहा है।

मथुन की एक विधि के मानक सिद्ध होने ही, उस विधि स अलग मथुन क सभी प्रकार स्वत ही अ मानक हो जाते हैं। मानक की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए आवश्यक होता है कि अ मानक का निरुत्साहित किया जाए।

o
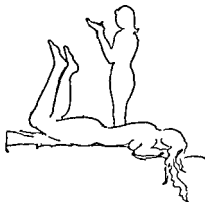
सम-लिंग-गमन

मथुन की जिन विधिया को सामाजिक मा यता नही मिली, उनम सम लिंग गमन भी एक है। यौनात्तेजना के गमन के लिए नर का नर के प्रति तथा मादा का मादा र प्रति अग्रसर हाना सम लिंग गमन कहलाता है।

सम लिंग गमन की आदत विश्व के सभी भागा म है। कही यह लुक छिपे प्रोत्साहन पाता है कहीं अपक्षाकृत खुले रूप म लेकिन इस विधि का किसी भी समाज म अधिक देर तक सम्मानित नही समझा गया।

कुछ लोगा क विचारानुसार समलैंगिकता पतृक आदत है लेकिन हमारे विचारानुसार एसा नही है। एक व्यक्ति सम लिंग गमन का अभ्यस्त बन गया, दूसरा न बन पाया इसके कारणा की खोज करत हुए ज्ञात होता है कि इस आदत क पडने म उस वातावरण का हाथ ज्यादा होता है जिस वातावरण म यौन चेतना के जागरण काल म मानव सांस लता है। वातावरण के अलावा व्यक्ति की मानसिक स्थिति का पर्यवेक्षण करना भी जरूरी होता है।

मिसाल क तौर पर एक लडकी अपनी सहेली स, पुरुष द्वारा किए

जाने वाले क्रूर मैथुन की दंतकथा सुन, पुरुष मात्र से भयभीत होकर जीवन भर के लिए पुरुष से उदासीन हो जाती है। उस दशा में भी यौनोत्तेजना से मुक्ति उसे पानी होती है। वह अपनी किसी सहेली को अपना यौन पूरक चुन लेती है।

कई बार ऐसा भी होता है कि पुरुष से वह भयभीत नहीं होती बल्कि आकृष्ट होती है, लेकिन स्वयं अपने रूप के प्रति वह हीनता अनुभव कर रही होती है। वह समझती है कि उसमें इतना आकर्षण नहीं कि कोई पुरुष उसकी ओर लपक सके। उस दशा में वह सम लिंग पर निर्भर होने की अभ्यस्त बन जाती है।

अपने कामिनी रूप से जानकार होकर भी, पुरुष से प्रणय निवेदन का साहस न होने के कारण वह पुरुष से विमुख होकर सम लिंग के प्रति उन्मुख हो सकती है।

यदि वह स्वयं सम लिंग गमन का रास्ता तलाश नहीं कर सकती तो उसके निकट सम्पर्क की कोई दूसरी लड़की अपनी उत्तेजना के शमन के लिए उसे अपनी राह पर ला सकती है।

यौन चेतना काल में यौनोत्तेजना से मुक्ति पाने की किसी भी विधि को यदि वह एक बार सुख का साधन समझ लेती है तो अन्य साधना के प्रति उसकी विमुखता बढ़ जाती है। किसी भी राह पर चल पड़ने से अभ्यासी को उस राह के और भी लाभ सूझ जाते हैं। मसलन यह कि सम लिंग गमन से गर्भ ठहरने का भय नहीं रहता या सम लिंगियों में विचरण करते रहने में मैथुन क्रिया गुपचुप हो जाती है। विषम लिंगियों में गमन करने से बदनामी की आशंका रहती है इत्यादि।

समाज नर और नारी, दो श्रेणियों में बँटा हुआ है। ये दोनों श्रेणियाँ बिलकुल पास पास रह कर भी एक दूसरे से बहुत दूर होती हैं। हर किशोर अपनी यौन समस्याओं के कारण अपने निकट की किशोरी से दूर होता है और दूरस्थ किशोर को अपने से निकट पाता है। किशोर की यौन समस्याओं को किशोर समझता है और किशोरी की समस्याओं को किशोरी समझती है।

जिस किस्म की अनुभूतियाँ उपयुक्त समलिंग-गामी लड़की में होती हैं, उससे मिलती जुलती यौन अनुभूतियाँ नव यौन चेतना-सम्पन्न किशोर के मन में भी होती हैं। किशोर और किशोरी के चिंतन में एक अन्तर अवश्य होता है कि जहाँ किशोरी पुरुष के क्रूर मैथुन से डर कर समलिंग-

गामिनी बनती है वहाँ विवाह विवाह को मात देनी भी या मात स्त्री की वस्तु मानता है। उसके साथ और कोई तदाकार बेशर्मी भरी क्रिया करा के उसका मन नहीं मानता।

अनानुमित सम लिंगाचार में नारी से दूर रहने के कारण भी पुरुष के लिए सम लिंग गमन के कारण बन जाता है। जो सम लिंग गमन में विवाह न करने या नारी से दूर रहने की मजबूरी होती है पुरुष से दूर रहने की वहाँ कोई हिदायत नहीं होती। सम लिंग गमन के और भी कारण हो सकते हैं जो गिनाए नहीं जा सकते। इस अभ्यास के मुख्य कारण आमतौर पर ये समझे जा सकते हैं—' विपरीत लिंगों का अभाव या निकट सम्पर्क में सम लिंग गमन का अभ्यस्त व्यक्ति। इन कारणों से व्यक्ति सम लिंग गमन का अभ्यास शुरू करता है। शुरू करने वाला मजबूरी की हालत में शुरू करता है सुख मिलने पर उसका अभ्यस्त हो जाता है।

यौन चेतना के उदय काल में व्यक्ति का यौन जीवन जिस मार्ग पर ठेल दिया जाता है, वही मार्ग उसके लिए तब तक के लिए निश्चित हो जाता है, जब तक उसे उस मार्ग से च्युत करने के लिए उससे अधिक आनन्द का मार्ग नहीं मिल जाता।

समाज में बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जो वर्तमान उपलब्धि से संतुष्ट नहीं होते। अधिक लाभ या अधिक सुख के लिए वे नये-नये परीक्षण करते रहते हैं यदि वे अपना यौन जीवन सम लिंग गामी के रूप में शुरू करते हैं तो वे उस मैथुन-पद्धति से तब तक काम चलाते हैं जब तक उससे अधिक सुखदायक मैथुन से उनका साक्षात्कार नहीं हो जाता। उनके लिए सम लिंग गमन मानक मैथुन की राह का एक पड़ाव होता है लेकिन कुछ व्यक्ति किसी नये अनुभव का जोखिम नहीं उठाना चाहते। उन्हें एक बार यदि सम लिंग गमन में सुख प्राप्त हो जाता है तो वे मैथुन की उसी विधि को मंजिल समझ कर अन्य सभी विधियों की ओर से आँखें मूंद लेते हैं।

हस्त-मैथुन

क्षुधा निवृत्ति के लिए आहार की ऐसी गोलियाँ बन चुकी हैं, जिनकी डिबिया अपने पास रख कर रसोई घर की आवश्यकता से निजात पायी जा सकती है, लेकिन उन गोलियों के आविष्कार के बावजूद आज के इंजीनियर नये मकानों का नक्शा बनाते समय रसोई घर का स्थान जरूर रखते हैं। वह इसलिए कि जीवित रहने योग्य जीवन-तत्त्वों से भरी हुई ये सूक्ष्म गोलियाँ स्थूल आहार का स्थान नहीं ले सकतीं। स्थूल आहार को खाने, चबाने, पचाने और उसका मल-मूत्र विसर्जित करने के लिए शारीरिक-संस्थान को जितना क्रियाशील होना पड़ता है, उन गोलियों को आत्मसात करने के लिए उस संस्थान को उतना सक्रिय नहीं होना पड़ता। उन स्थानों के निवासियों के लिए ये गोलियाँ बड़ी वरदान हैं, जहाँ स्थूल आहार नहीं पहुँच सकता, लेकिन ये गोलियाँ सामान्य भोजन का पूर्ण पर्याय नहीं बन सकतीं।

हस्त-मैथुन की क्रिया मानव-मैथुन का संकटकालीन काम चलाऊ पर्याय तो बन सकती है लेकिन मैथुन की जगह नहीं ले सकती। वह इसलिए कि मानव-मैथुन केवल एक अंग की क्रिया नहीं, उसमें पूरा शारीरिक-

सरपात, सारी इन्द्रियाँ भाग लेती हैं इसलिए उसमें जो संतुष्टि और तृप्ति मिलती है वह हस्त मैथुन से नहीं मिलती।

हस्त मैथुन मानव विधि नहीं है, बल्कि इसका प्रचलन अन्य किसी भी मानव या अमानव विधि से अधिक है। इस प्रचलन का कारण कुछ व सुविधाएँ हैं जो अन्य किसी मैथुन में प्राप्त नहीं हैं। मानव मैथुन के लिए सामाजिक मान्यता साधारणतः विवाहोपरान्त मिलती है। वेश्यागमन परस्त्री गमन समलिंग-गमन और पशुगमन में राजदारी न रहने से बदनामी का भय रहता है। इन सबके मुकाबिले में हस्त मैथुन एक ऐसी उत्तेजना शमन विधि है जो जब जहाँ जी चाहे बिना किसी को राजदार बनाए निबटाई जा सकती है।

हस्त मैथुन के जितने दोष ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी पुरानी पुस्तकों में गिनाए हैं वास्तव में वे सारे दोष अति मैथुन के हैं। मानव मैथुन की अति का होना आमतौर पर कठिन होता है क्योंकि मानव मैथुन को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती है वे सारे इतनी कठिनता से एकत्र हो पाते हैं कि उसकी अति होना सामान्यतः सरल नहीं होता। उपयुक्त-साथी, उपयुक्त समय, उपयुक्त स्थान, उपयुक्त अवसर प्राप्ति अनेक उपयुक्तों में से किसी एक की भी कमी रह जाए तो मानव मैथुन मुल्तवी हो जाता है लेकिन हस्त मैथुन में चूँकि उन सब साधनों की जरूरत नहीं पड़ती इसलिए इसकी अति हो सकती है। इसका चस्का आसानी से लग सकता है। अन्य मैथुन प्रकारों से अधिक सुविधापूर्वक होने के कारण व्यक्ति यह मैथुन अपनी शक्ति विसर्जन क्षमता से अधिक कर बैठता है। इससे शरीर के अनुकूलन धर्म में बाधा आने की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

o

प्रतीक मैथुन, पशु मैथुन

कोई भी छिद्र तलाश करके, उसे योनि का प्रतीक मान कर उसमें रत हो जाना या किसी लम्बे आकार की वस्तु को लिंग का प्रतीक मान कर, उसे अपनी उत्तेजना शमन का साधन बना लेना, ये सब प्रतीक मैथुन की श्रेणी में मान ली गई क्रियाएं हैं।

योनि और लिंग के प्रतीक तलाश करते-करते मानव बेजान चीज़ों से मानवेतर प्राणियों तक जा पहुँचता है। जब हथेली से योनि का और उँगलियों से लिंग का काम लिया जा सकता है, तो उन्हें आदतन करके मैथुन के लिए पशुओं में सहयोगी और प्रतीक अंग तलाश करना कुछ व्यक्तियों को जो स्वयं इस प्रकार मैथुन के अभ्यस्त नहीं हैं, अजीब-सा लगता है।

पशु मैथुन और प्रतीक मैथुन के अभ्यास का मुख्य कारण अनुकरण की प्रवृत्ति है। दो सहेलियों में से एक यदि अपनी उत्तेजना निवृत्ति के लिए केला या बैंगन प्रयुक्त करती हो तो उससे इस अनुभव की चर्चा सुनकर यौन चेतना सम्पन्न उसकी दूसरी सहेली उस प्रतीक के चिंतन मात्र से सुखद सिहरन से भर जाएगी और हस्त मैथुन जैसे अपने हाथ के उत्तेजना

निर्वारक साधना पर से ध्यान हटा कर यह दुरन्त प्रतीकों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाएगी। उन प्रतीकों को खोजने के काल में उसे वैसा आनन्द आएगा जैसा मानव मैथुन में रत व्यक्ति को प्राक्क्रीडाओं में आता है।

हस्त मैथुन जैसे सुविधा जनक उत्तेजना शमन साधन को छोड़ कर प्रतीकों के पीछे दौड़ने की प्रवृत्ति का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि हस्त मैथुन में एक कमी है जो प्रतीक मैथुन में नहीं है। वह यह कि हस्त मैथुन के अभ्यासी का उत्तेजना काल लम्बा नहीं होता। उसके उत्तेजित होने और स्खलित होने के मध्य का काल इतना छोटा होता है कि व्यक्ति उत्तेजना का पूरा आनन्द नहीं ले पाता।

उत्तेजना-काल को लम्बा करने के लिए मानव प्रतीकों की तलाश करता है। ऐसे प्रतीक, जो उसे तुरत न मिल जाए। जिन्हें तलाश करने में देर लगे। तलाश के उन क्षणों में मानव प्राक्क्रीडाओं का-सा सुख पाए सुख का वह काल जितना लम्बा हो सके होने दे।

प्रकरण—१२
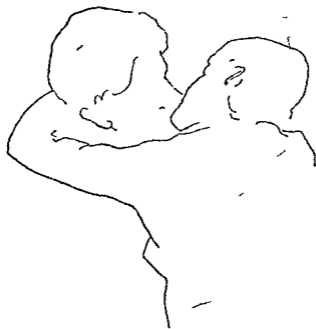
प्रेम
और प्रेम का आवेग

प्रेम
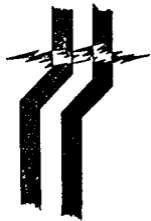
यौन-सुख की प्राप्ति के लिए एक को दूसरे की आवश्यकता पडती है। यौनोत्तेजना के शांत होने के बाद वह आवश्यकता समाप्त हो जाती है। कई अवस्थाओं में उस शारीरिक आवश्यकता के समाप्त होने के बाद भी उन दोनों इकाइयों में कुछ सम्बन्ध रह जाता है, जो दोनों को एक-दूसरे के लिए अनिवार्य होने का बोध कराता रहता है।

कई बार इस आशा से एक इकाई अपनी यौन पूरक इकाई की ओर अग्रसर होती है कि उससे भविष्य में यौन सुख मिलेगा, लेकिन कुछ कारणों के वश दोनों इकाइयों का शारीरिक मिलन नहीं हो पाता। यौन सुख का आदान प्रदान हुए बिना उन दोनों के बीच एक भावात्मक सम्बन्ध कायम हो जाता है जो उन्हें एक-दूसरे के लिए अनिवार्य होने का बोध कराता रहता है।

कई बार यौन सुख की आशा किए बिना दो व्यक्ति या दो वर्ग अपने पूरक गुणों के कारण आपस में एक दूसरे को अनिवार्य समझने लगते हैं। दो व्यक्तियों या दो वर्गों के दरम्यान, अनिवार्य होने का बोध कराने वाली ये सारी अवस्थाएँ प्रेम की विधाएँ हैं। इस प्रकरण में उन विधाओं की सविवरण चर्चा होनी है।

प्रेम का आदि-स्रोत

प्रेम का मूल 'भय' है। शिशु जब संसार में आता है तो वह निपट असहाय होता है। भूख प्यास, सर्दी गर्मी, वर्षा, ध्वनि, ये सब शिशु के लिए कष्टप्रद होते हैं। जो कष्टप्रद होते हैं, उनसे वह भयभीत होता है। उन कष्टों से शिशु पलायन करना चाहता है, लेकिन अशक्त होने के कारण पलायन कर नहीं सकता। बिस्तर चुभ रहा है या बिस्तर भीग गया है, खिड़की से धूप आकर उस पर पड़ने लगी है, या मच्छर उसे काट रहा है, इन सब असुविधाकर अवस्थाओं से वह स्वयं त्राण नहीं पा सकता। इस प्रकार के कष्टों से जो व्यक्तित्व उसे त्राण दिलाता है, शिशु उससे लिपट जाता है। प्रेम का आदि रूप, प्रेरक रूप यही है।

उसे अपनी छाती से लिपटा लेने वाले उससे बड़ी उम्र के व्यक्ति को किसी ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है जो उस पर पूर्ण निष्ठा रखे, उसे अपना विश्वास पात्र माने और उसे विश्व का सर्वाधिक-श्रेष्ठ व्यक्ति समझे। ऐसा निष्ठावान व्यक्तित्व सिवाय शिशु के और कोई नहीं हो सकता अतः ऐसा पूर्ण आस्थावान व्यक्तित्व पाते ही बड़ी उम्र का व्यक्ति, लिपट जाने वाले शिशु को कसकर भींच लेता है। प्रेम के आदान प्रदान

का चक्र चलना, यहीं से शुरू हो जाता है।

शिशु नहीं जानता कि वह किसकी कोख से जन्मा है। उसे एक सहाइ चाहिए जो उसकी भूख प्यास आदि मूलभूत आवश्यकताएँ समझ सके। चाहे वह माता हो, धाय हो, पड़ोसी हो या कोई मानवेतर जीव हो जो भी उसका सहाइ बनता है वह उस शिशु के प्यार का पात्र बन जाता है।

लेकिन उसके प्यार के उत्तर में अपना प्यार देने वाला बड़ी उम्र का व्यक्ति, हर शिशु पर अपना प्यार नहीं लुटाता। समाज में विचरण करते हुए वह जानता है कि किस शिशु पर प्यार लुटाना उसके लिए हितकर है, किस पर लुटाना हितकर नहीं है। वह सोचता है —

अमुक शिशु किसी और की संतान है। मुझे निकट पाकर यदि मुझ पर आस्था रखता है तो वह आस्था अस्थायी है। आखिर उसे मुझ से दूर होकर अपने माता पिता के निकट होना है। अतः मेरे लिए अच्छा है कि मैं उस शिशु पर अपना प्यार न्योछावर करूँ जो मुझसे जल्दी अलग न हो सकता हो। ऐसा शिशु वही हो सकता है जो मेरी कोख से जन्मा हो या मेरे अंश का फल हो या मेरे वंश के किसी अंश का फल हो या जिस पर समाज मेरा अधिकार अधिक मानता हो या जिसे मुझसे छीन कर कोई न ले जा सकता हो। यदि ऐसा व्यक्तित्व अभी पैदा नहीं हुआ तो रुक जाना चाहिए। उसके आने तक अपना आवेग सम्भाल कर रखना चाहिए। अगर उस व्यक्तित्व के आने की आशा समाप्त हो गयी हो तो किसी अन्य व्यक्तित्व पर यह भावना तब लुटानी चाहिए जब उस पर अपने पूरे अधिकार का सामाजिक आश्वासन मिल जाए। जब तक 'मम' होने का आश्वासन न मिले तब तक उसके प्रति ममत्व' कैसा ? जब उसे 'मेरा' मान लिया जाएगा तब उसकी रक्षा करने सजग रहने का औचित्य होगा। उसके लिए सुखद वातावरण का निर्माण करना संगत होगा क्योंकि उस समय उसके सुख और सुरक्षा के लिए किया गया प्रबन्ध केवल उस व्यक्तित्व के हित के लिए नहीं होगा बल्कि इसलिए भी होगा कि वह अपना है। उसकी रक्षा करना अपनी वस्तु की रक्षा करना है।

जब तक शिशु घर से बाहर के संसार के संपर्क में नहीं आता वह अपने पालनहारों को ही सबसे अधिक हितैषी समझता है। वे उसकी सुरक्षा की जिम्मेवारी अपने सिर लेते हैं इसलिए वह उनकी लगाई हुई रुकावटों को सहन करता है। रुकावटों के कारण वह अपने पालनहारों

का नापसन्द भी करता है, लेकिन उसे सुरक्षा और कही नहीं मिलती इसलिए अपनी नापसन्दगी छिपाए रखता है।

घर से बाहर के ससार म कदम रखने पर वह अपनी आयु के दूसरे शिशुओ के सम्पर्क मे आता है। अपनी जसी समस्याओ से घिरे शिशुओं स मिल कर उसे लगता है कि वह अकेला नही है। और कोई भी उसके दुख सुख का साथी है। उसे अपने दिल की बात समझने वाला मिल जाता है। उसके निकट रहने की कामना उसम बलवती हो उठती है, नैकट्य की वह कामना सख्यभाव कहलाती है।

उससे बडा होने पर, जब उसकी यौन प्रक्रिया अधिक क्रियाशील होने लगती हैं तो उसे नयी दृष्टि मिलती है। तब उसका सख्य भाव अपने लिंग के व्यक्तियो क प्रति घट कर विषम लिंगियो के प्रति होने लगता है। अपनी ही योनि के अपने से अलग किस्म के अग समूह के धारक व्यक्तित्व का नकट्य उस अधिक सुखद लगने लगता है नैकट्य की इस कामना का नाम ऐन्द्रिक प्रेम रख लिया जाता है।

यही प्रेम, वातावरण और आवश्यकता के अनुसार अपने रूप बदलता हुआ आदर श्रद्धा, राष्ट्रीयता आदि अनेक नाम धारण करता रहता है और प्रेम के उन सभी रूपो का ध्येय एक ही होता है—आत्म सुख।

प्रेम का आधार

व्यक्ति मूल रूप म अपने आप से प्रेम करता है। यदि वह दूसर से प्रेम करता है तो इस आशा पर कि उसे बदले म उतना और वैसा प्रेम मिलेगा। खुद किसी का प्रेम पात्र बनने के लिए ही वह किसी का प्रेमी बनता है। प्रेम की वेदी पर बलिदान होने के जितने भी किस्से प्रचलित हैं, उन बलिदानो की तह म आत्म प्रेम के सिवा कुछ नही होता। प्रेम की दु खान्त कहानिया के नायक-नायिकाएँ उदाहरणत लला मजनू, रोमियो-जूलियट या सारगा सदावृज एक-दूसरे के पीछे मर मिटते सुने जाते हैं। वास्तव म वे एक-दूसरे के पीछे नही मरते, बल्कि इसलिए मरते हैं कि प्रणय के प्रथम चरण म, व एक-दूसरे को इतने अनिवाय समझ बठते हैं कि एक को दूसरे के बिना जीवन बिताने की कल्पना ही दुस्सह जान पडती है। सम्भावित वियाग के सताप स त्राण पाने के लिए उनम से हरेक अपने पूरक को पाने का भरसक प्रयत्न करता है। प्राप्ति म विफल होने के बाद उसे अपने प्रेम पात्र के बिना जीवित रहने की अपेक्षा मरना सरल लगता है। वह कठिन को छोड कर सरल राह अपना लता है। समाज उस सरल-पथगामी को शहीद समझने लगता है।

जो सुख अपने लिए सबसे अधिक आवश्यक है उसको सुलभतर प्राप्त करने की चेष्टा में प्रत्येक व्यक्ति लगा हुआ है। किसके लिए क्या आवश्यक है और क्या गौणतर इस प्रश्न का उत्तर हर व्यक्ति की परिस्थितियों पर और साधनों पर निर्भर है।

एक व्यक्ति धन को सुख का साधन अपनी अपनी को समझता है तो दूसरा माता पिता या संतान, बन्धु-बान्धव, अथवा बिरादरी वर्ग, पति या पत्नी को समझता है। अपनी जीवन व्यापार और अभ्यास के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख का साधन कुछ व्यक्तियों, चीज़ों या वस्तुओं को मान लेता है फिर उसकी प्राप्ति के प्रयत्नों में उस सुख का आभास होने लगता है। एक व्यक्ति यदि अपने सुख का साधन धन को समझता है तो वह पैसे को लेकर समझ खुद उसका गुलाम बन या अपनी हालत बुरी बना लेता है। धन प्राप्त करने के मार्ग में आने वाले कष्ट को वह कष्ट नहीं समझता।

अर्थपति जहाँ अपनी अर्थ क्षमता बढ़ा कर अपना आपका साथी समझता है वहाँ अर्थहीन का अपनी बिरादरी बढ़ा कर वैसे सुख की अनुभूति होती है। वह यदि अपने धन को अपनी बिरादरी समझता है तो यह अपनी बिरादरी को अमूल्य निधि मानता है। अपने अपने सुख के साधना का विकास वे दोनो अपनी अपनी क्षमता के अनुसार करते रहते हैं।

यदि एक व्यक्ति किसी शिशु को अपने सुख का मुख्य-साधन मान लेता है तो वह उस शिशु को बचाने के लिए सुख के गौण साधना का बलिदान कर देता है। जरूरी नहीं कि वह शिशु उसकी अपनी संतान हो। किसी और की संतान के प्रति भी अपना बहुत कुछ लुटाया जा सकता है बशर्ते कि उससे प्यार लौटने की उम्मीद हो। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति अपनी जायी सन्तान के प्रति भी क्रूर बन जाता है। अपनी संतान के किसी कृत्य के कारण यदि उसे अपने समाज से बहिष्कृत होना पड़े तो वह मन ही मन संतान से और समाज से प्राप्त होने वाले सुखों को तौलता है। यदि वह समाज के बिना गुज़ारा कर सकता है तो समाज का बहिष्कार करके वह संतान को गले लगा लेता है। यदि वह समाज को अपने लिए संतान से अधिक आवश्यक मानता है तो वह समाज के निमित्त संतान का त्याग कर देता है।

अपने बच्चों के पालन पोषण के लिए सतीत्व बेच देने वाली निर्धन माताएँ भी होती हैं और ऐसी माताएँ भी जो सतीत्व को बचाना अपना

परम कर्तव्य समझती हैं। वे सतीत्व बचाकर बच्चे को भूखा रखने में कुछ हर्ज नहीं समझती। ऐसी आदर्श-नारियों के बारे में पढ़ा सुना है कि रोगी-बच्चा बिना औषधि के मर रहा होता है। उसके लिए औषधि पाने के लिए उसकी माता से सतीत्व बेचने की माग की जाती है। ममतामयी उस शर्त पर अपने सतीत्व का त्याग नहीं करती, बच्चे की जाने देती है। अपनी सन्तान के प्रति उसका प्यार कम नहीं होता लेकिन उस प्यार के बदले में अपने सतीत्व का सौदा उसे मँहगा लगता है[1]।

मानव के तो सन्तान के साथ कुछ स्वार्थ जुड़े होते हैं, लेकिन हम देखते हैं कि ममता पशु पक्षियों में भी होती है। पक्षी अपने अण्डे सेते हैं, पशु अपने बच्चे की रक्षा के लिए सजग रहते हैं। पक्षी परिश्रम करके जो चुग्गा ढूंढ लाता है, उसे वह अपने पेट में डालने की बजाय अपने बच्चे की खुली चोंच में डाल देता है। बछड़े को देख कर गाय के थनों में दूध उतर आता है। उन जीवों को न अपनी सन्तान से पिंड दान कराना होता है न उनसे अपने कुल का नाम उज्ज्वल कराना होता है, फिर उनका वात्सल्य किस आशा से उपजता और पनपता है?

गाय को पशु जगत् का एक प्रतिनिधि मान कर उसके वात्सल्य की पृष्ठभूमि में छिपी उसकी आवश्यकताओं का अनुमान लगाने का यत्न करते हैं।

शक्ति अनुकूलन के लिए मैथुन गाय की शारीरिक आवश्यकता है। उस सुखद क्रिया का फल गाय को गर्भवती होकर भोगना होता है। गर्भ काल में उसका शरीर भारी हो जाता है। सफल प्रजनन के लिए उसके पालक उसका दूध निकालना बन्द कर देते हैं। इससे उसके मल अनुकूलन धर्म में बाधा आती है। फलस्वरूप उसके स्तन दुग्धातिरेक से दर्द करने लगते हैं। मैथुन में वह स्वेच्छा से भाग लेती है लेकिन मैथुन के बाद की उस अनिवार्य कष्ट की स्थिति को वह स्वेच्छा से स्वीकार नहीं करती, वह उसे स्वीकार करनी पड़ती है। अपनी मर्जी से वह उस स्थिति से त्राण नहीं पा सकती। केवल प्रजनन ही उस शरीर के भारीपन से, स्तन के दर्द से मुक्ति दिला सकता है लेकिन प्रजनन एक निश्चित अवधि के बाद होना

---

[1] ऐसी घटनाएँ उस समाज में होती हैं जहाँ नारी का सतीत्व अति अमूल्य निधि समझा जाता है। वहाँ इस निधि से हीन नारी की सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय होती है।

परम कर्तव्य समझती हैं। वे सतीत्व बचाकर बच्चे को भूखा रखने में कुछ हर्ज नहीं समझतीं। ऐसी आदर्श-नारियों के बारे में पढ़ा-सुना है कि रोगी बच्चा बिना औषधि के मर रहा होता है। उसके लिए औषधि पाने के लिए उसकी माता से सतीत्व बेचने की माग की जाती है। ममतामयी उस शर्त पर अपने सतीत्व का त्याग नहीं करती, बच्चे की जाने देती है। अपनी सन्तान के प्रति उसका प्यार कम नहीं होता लेकिन उस प्यार के बदले में अपने सतीत्व का सौदा उसे मँहगा लगता है[1]।

मानव के तो सन्तान के साथ कुछ स्वार्थ जुड़े होते हैं, लेकिन हम देखते हैं कि ममता पशु पक्षियों में भी होती है। पक्षी अपने अण्डे सेते हैं पशु अपने बच्चे की रक्षा के लिए सजग रहते हैं। पक्षी परिश्रम करके जो चुग्गा ढूढ लाता है, उसे वह अपने पेट में डालने की बजाय अपने बच्चे की खुली चोंच में डाल देता है। बछड़े को देख कर गाय के थनों में दूध उतर आता है। उन जीवों को न अपनी सन्तान से पिंड दान कराना होता है, न उनसे अपने कुल का नाम उज्ज्वल कराना होता है, फिर उनका वात्सल्य किस आशा से उपजता और पनपता है?

गाय को पशु जगत का एक प्रतिनिधि मान कर उसके वात्सल्य की पृष्ठभूमि में छिपी उसकी आवश्यकताओं का अनुमान लगाने का यत्न करते हैं।

नवीन अनुकूलन के लिए मैथुन गाय की शारीरिक आवश्यकता है। उस सुखद क्रिया का फल गाय को गर्भवती होकर भोगना होता है। गर्भ-काल में उसका शरीर भारी हो जाता है। सफल प्रजनन के लिए उसके पालक उसका दूध निकालना बन्द कर देते हैं। इससे उसके मूल अनुकूलन धर्म में बाधा आती है। फलस्वरूप उसके स्तन दुग्धातिरेक से दर्द करने लगते हैं। मैथुन में वह स्वेच्छा से भाग लेती है, लेकिन मैथुन के बाद की उस अनिवार्य-कष्ट की स्थिति को वह स्वेच्छा से स्वीकार नहीं करती, वह उसे स्वीकार करनी पड़ती है। अपनी मर्जी से वह उस स्थिति से त्राण नहीं पा सकती। केवल प्रजनन ही उसे शरीर के भारीपन से, स्तन के दर्द से मुक्ति दिला सकता है लेकिन प्रजनन एक निश्चित अवधि के बाद होना

---

[1] ऐसी घटनाएं उस समाज में होती हैं जहाँ नारी का सतीत्व अति अमूल्य निधि समझा जाता है। वहाँ इस निधि से हीन नारी की सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय होती है।

जो कुछ अपने लिए मगुतान्र या पालतू है उस दस्र गुणकर प्राप्त करने की इच्छा म प्रत्येक व्यक्ति लगा हुआ है। जिसके लिए क्या पालतू है और क्या गलतकर इस प्रश्न का उत्तर हर व्यक्ति की परिस्थितियों पर और सोचने के ढंग पर निर्भर है।

एक व्यक्ति अपने सुख का साधन अपनी प्रेयसी को समझता है तो दूसरा माता पिता म सन्तान, पालतू पशु, फसल, जिराइरी पसा पति या पत्नी को समझता है। अपने जीवन ज्ञान और अभ्यास के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख का साधन कुछ व्यक्तियों जीवों या वस्तुओं को मान लेता है फिर उसकी प्राप्ति के प्रयत्नों म उस सुख का आभास होने लगता है। एक व्यक्ति यदि अपने सुख का साधन पैसे को समझता है तो वह पैसे को सला समझ खुद उसका मजनू बन, अपनी हालत बुरी बना लेता है। अर्थ प्राप्त करने के दौरान म आने वाले कष्ट को वह कष्ट नहीं समझता।

अर्थपति जहाँ अपनी अर्थ क्षमता बढ़ा कर अपने आपको सुखी समझता है वहाँ अर्थहीन को अपनी बिरादरी बढ़ा कर वैसे सुख की अनुभूति होती है। वह यदि अपने धन को अपनी बिरादरी समझता है तो यह अपनी बिरादरी को अमूल्य निधि मानता है। अपने अपने सुख के साधनों का विकास, वे दोनों अपनी अपनी क्षमता के अनुसार करते रहते हैं।

यदि एक व्यक्ति किसी शिशु को अपने सुख का मुख्य-साधन मान लेता है तो वह उस शिशु को बचाने के लिए सुख के गौण साधनों का बलिदान कर देता है। जरूरी नहीं कि वह शिशु उसकी अपनी सन्तान हो। किसी और की सन्तान के प्रति भी अपना बहुत कुछ लुटाया जा सकता है बशर्ते कि उससे प्यार लौटने की उम्मीद हो। कभी कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति अपनी जायी सन्तान के प्रति भी क्रूर बन जाता है। अपनी सन्तान के किसी कृत्य के कारण यदि उसे अपने समाज से बहिष्कृत होना पड़े तो वह मन ही मन सन्तान से और समाज से प्राप्त होने वाले सुखों को तोलता है। यदि वह समाज के बिना गुजारा कर सकता है तो समाज का बहिष्कार करके वह सन्तान को गले लगा लेता है। यदि वह समाज को अपने लिए सन्तान से अधिक आवश्यक मानता है तो वह समाज के निमित्त सन्तान का त्याग कर देता है।

अपने बच्चों के पालन पोषण के लिए सतीत्व बेच देने वाली निर्धन माताएँ भी होती हैं और ऐसी माताएँ भी जो सतीत्व को बचाना अपना

परम कर्तव्य समझती हैं। वे सतीत्व बचाकर बच्चे को भूखा रखने मे कुछ हर्ज नही समझती। ऐसी भारत-नारियो के बारे मे पढा-सुना है कि रोगी बच्चा बिना औषधि के मर रहा होता है। उसके लिए औषधि पाने के लिए उसकी माता से सतीत्व बेचने की माँग की जाती है। ममतामयी उस शर्त पर अपने सतीत्व का त्याग नही करती, बच्चे को जाने देती है। अपनी सन्तान के प्रति उसका प्यार कम नही होता लेकिन उस प्यार के बदले मे अपने सतीत्व का सौदा उसे महँगा लगता है[1]।

मानव के तो सन्तान के साथ कुछ स्वार्थ जुडे होते हैं लेकिन हम देखते हैं कि ममता पशु पक्षियो मे भी होती है। पक्षी अपने अण्डे सेते हैं पशु अपने बच्चे की रक्षा के लिए सजग रहते हैं। पक्षी परिश्रम करके जो चुग्गा ढूढ लाता है उसे वह अपने पेट मे डालने की बजाय अपने बच्चे की खुली चोच मे डाल देता है। बछडे को देख कर गाय के थनों मे दूध उतर आता है। उन जीवो को न अपनी सन्तान से पिंड-दान कराना होता है, न उनसे अपने कुल का नाम उज्जवल कराना होता है, फिर उनका वात्सल्य किस आशा से उपजता और पनपता है?

गाय को पशु जगत का एक प्रतिनिधि मान कर उसके वात्सल्य की पृष्ठभूमि मे छिपी उसकी आवश्यकताओ का अनुमान लगाने का यत्न करते हैं।

शक्ति अनुकूलन के लिए मैथुन गाय की शारीरिक आवश्यकता है। उस सुखद क्रिया का फल गाय को गर्भवती होकर भोगना होता है। गर्भ काल मे उसका शरीर भारी हो जाता है। सफल प्रजनन के लिए उसके पालक उसका दूध निकालना बन्द कर देते हैं। इससे उसके मल अनुकूलन धर्म मे बाधा आती है। फलस्वरूप उसके स्तन दुग्धातिरेक से दर्द करने लगते हैं। मैथुन मे वह स्वेच्छा से भाग लेती है लेकिन मैथुन के बाद की उस अनिवार्य-कष्ट की स्थिति को वह स्वेच्छा से स्वीकार नही करती, वह उसे स्वीकार करनी पडती है। अपनी मर्जी से वह उस स्थिति से त्राण नही पा सकती। केवल प्रजनन ही उस शरीर के भारीपन से स्तन के दर्द से मुक्ति दिला सकता है लेकिन प्रजनन एक निश्चित अवधि के बाद होता

---

[1] ऐसी घटनाएँ उस समाज मे होती हैं जहाँ नारी का सतीत्व अति अमूल्य-निधि समझा जाता है। वहाँ इस निधि से हीन नारी की सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय होती है।

सम्भव होता है। जब हो जाता है तो हल्केपन का आभास उसे होना है। अपने बछडे का देख कर उसके मन म यह दुर्भावना नही आती कि वह यही था जो उसे भीतर तग कर रहा था बल्कि उसे देखकर यह सदभावना उसम उपजती है कि इस बछडे के बाहर आते ही उसे हल्केपन का आभास हुआ। एक नये नाजुक नम और ताजे शरीर का समग उस पर बछडे का दात विहीन मुख से स्तनो को चूम कर उन्ह खाली करके उसे दुग्धा तिरेक स होने वाले कष्ट से त्राण दिलाना—यह मिला-जुला नया सुख गाय के मन म जिस भावना का जन्म देता है मानव उस भावना को 'वात्सल्य' कहता है। अनुमान है कि इसी से मिलता जुलता सुख पक्षिया को अपने अण्डा को सेने म मिलता होगा।

शरीर के अनुकूलन क्रम के अनुसार जीव को क्रियाशील तो होते रहना पडता है यदि वह उस क्रियाशीलता से सन्तान जसे सुखद व्यक्तित्व को अधिक सुख देने के लिए खच करता है तो कुछ विचित्र नही करता क्योकि उसने आस पास देखा हुआ होना है कि सन्तान पर खच हुई क्रियाशीलता का फल सन्तान के प्यार के रूप म लौट कर मिला करता है।

मानव से इतर अन्य जीव सन्तान से अस्थायी सा प्यार पाने के अतिरिक्त और कोई आशा नही रखते लकिन मानव अपनी सन्तान से आशाए भी लगाता है। उस लिहाज स हम पशु पक्षियो के प्रेम को अपक्षाकृत निष्काम और मानव के प्रम का अपेक्षाकृत सकाम कह सकते हैं। 'निष्काम' के साथ अपक्षाकृत शब्द इसलिए लगाना पडा है कि बिलकुल निष्काम प्रेम किसी भी जीव का नही होता जसा कि ऊपर की पक्तिया म स्पष्ट किया गया है।

मानव के सकाम प्रेम के पीछे कुछ मजबूरिया ह जो पशु पक्षिया को नहीं हैं। उदाहरणत यदि कोई बिल्ली दूध पीने की इच्छा कर तो उसे दूध प्राप्त करन के लिए करेंसी नोट या सिक्के नही जुटाने पडते, चिडिया को अपना घोंसला बनाने के लिए तिनके नही खरीदने पडते ना ही मधु मक्खियो को मधु का छत्ता अटकाने के लिए काई छत या वृक्ष की डाली पटट पर लनी पडती है। उन मानवेतर जीवो की आवश्यकताएँ, मुद्रा जसी वस्तु के बिना उनके अपने प्रयत्ना से पूरी होती रहती हैं लकिन मानव को सुख जीवित रहन क लिए और अपनी सन्तान का पालन करने के लिए हर वस्तु का मूल्य चुका कर साधन जुटाने होते हैं।

मनुष्य इस आशा स सब साधन जुटाता है कि जब वह बुढ़ापे म असमर्थ

हो जाएगा तो उसकी सन्तान उसके असहाय काल में उसका सहारा बनेगी। जब उसकी सन्तान उसे सहारा नहीं देती तो उसे निराशा होती है।

इस शताब्दी का मानव कम सन्तान का पक्षधर बना है। इससे विश्व की जनसंख्या को सीमित करने में सहायता मिली है लेकिन व्यक्ति के सन्तति निरोध के लिए किए गये प्रयत्नों का उद्देश्य जनसंख्या को सीमित करना नहीं है वह इसलिए है कि ऐसा करने से उसे सुविधा महसूस होने लगी है। उस सुविधा का कारण पहले के मुकाबिले में बदली हुई नयी स्थिति है। अब पहले जैसा समय नहीं रहा कि वह अपनी सन्तान का विधाता स्वयं बन जाए। उसे बिना पढ़ाए लिखाए जीविकोपार्जन के काम में लगा ले और जब चाहे उसे मार पीट दे।

बहुत से राष्ट्रों में अब शासन ने माता पिता पर सन्तान के पालन पोषण सम्बन्धी बहुत से कर्त्तव्य लाद दिए हैं और उनसे सन्तान के साथ मनमाना व्यवहार करने के बहुत से अधिकार छीन लिए हैं। ऐसी स्थिति में समग्र प्रेम के एक अंश वात्सल्य के तकाज़े के अनुसार मानव एकाध सन्तान जनने का कष्ट तो सहन कर लेता है लेकिन वह बुद्धिमानी इसमें समझता है कि वह उस तकाज़े की पूर्ति के लिए जने जनाए कुत्ते बिल्लियाँ व कबूतर पाल ले। सन्तान के ये नये पर्याय स्वीकार कर लेने वाले बुद्धिमानों की संख्या जिस समाज में बढ़ी है, उस समाज में सैर करते हुए माता का अपने शिशु को लेकर चलना फूहड़पन समझा जाता है और मनपसन्द पशु को साथ लेकर घूमना फैशन बन गया है। बच्चा धाय के हवाले कर दिया जाता है और अपने प्रिय पशु को अपने हाथ से पाला सँवारा और दुलारा जाता है।

यह सब देखकर जिज्ञासु के मन में यह प्रश्न उपजता है कि ममता क्या है? यह भावना सन्तान के हित के लिए है या अपने मानसिक सुख के लिए है?

ममता का आधार 'सन्तान खुद माता पिता को इसलिए प्यार करती है कि उनसे उसकी आवश्यकताएँ पूरी होती रहती हैं। उनके पास उसे सुरक्षा की अनुभूति होती है वरना शुभ चिंतक होने के नाते माँ बाप अपनी सन्तान की स्वतन्त्रता का जितना हनन करते हैं उस कारण से सन्तान उनसे प्रेम की अपेक्षा घृणा करती है। वह अपने माता पिता के प्रति तब तक घृणा छुपाए रहती है और प्रेम करती रहती है तब तक उसे घर से बाहर के संसार में सुरक्षा का आश्वासन नहीं मिल जाता। यह

सम्भव होता है। जब हो जाता है तो हल्केपन का आभास उसे होता है। अपने बछड़े को देख कर उसके मन में यह दुर्भावना नहीं आती कि यह वही था जो उसे भीतर तंग कर रहा था, बल्कि उसे देखकर यह सम्भावना उसमें उपजती है कि इस बछड़े के बाहर आने से ही उसे हल्केपन का आभास हुआ। एक नये, नाजुक नर्म और ताजे शरीर का स्पर्श उस पर बछड़े का दाँत विहीन मुख से स्तनों को चूम कर उन्हें खाली करके उसे दुग्धातिरेक से होने वाले कष्ट से त्राण दिलाना—यह मिला-जुला नया सुख गाय के मन में जिस भावना को जन्म देता है मानव उस भावना को 'वात्सल्य' कहता है। अनुमान है कि इसी से मिलता-जुलता सुख पक्षियों को अपने अण्डों को सेने में मिलता होगा।

शरीर के अनुकूलन धर्म के अनुसार जीव को क्रियाशील तो होते रहना पड़ता है, यदि वह उस क्रियाशीलता से सन्तान जैसे मुग्ध व्यक्तित्व को अधिक सुख देने के लिए खर्च करता है तो कुछ विचित्र नहीं करता क्योंकि उसने आस पास देखा हुआ होता है कि सन्तान पर खर्च हुई क्रियाशीलता का फल सन्तान के प्यार के रूप में लौट कर मिला करता है।

मानव से इतर अन्य जीव सन्तान से अस्थायी सा प्यार पाने के अतिरिक्त और कोई आशा नहीं रखते लेकिन मानव अपनी सन्तान से आशाएं भी लगाता है। उस लिहाज़ से हम पशु पक्षियों के प्रेम को अपेक्षाकृत निष्काम और मानव के प्रेम को अपेक्षाकृत सकाम कह सकते हैं। निष्काम के साथ अपेक्षाकृत शब्द इसलिए लगाना पड़ा है कि बिल्कुल निष्काम प्रेम किसी भी जीव का नहीं होता जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में स्पष्ट किया गया है।

मानव के सकाम प्रेम के पीछे कुछ मजबूरियां हैं जो पशु पक्षियों को नहीं है। उदाहरणतः यदि कोई बिल्ली दूध पीने की इच्छा करे तो उसे दूध प्राप्त करने के लिए करेंसी नोट या सिक्के नहीं जुटाने पड़ते, चिड़ियों को अपना घोंसला बनाने के लिए तिनके नहीं खरीदने पड़ते ना ही मधुमक्खियों को मधु का छत्ता अटकाने के लिए कोई छत या वृक्ष की डाली पट्टे पर लेनी पड़ती है। उन मानवेतर जीवों की आवश्यकताएँ, मुद्रा जैसी वस्तु के बिना उनके अपने प्रयत्नों से पूरी होती रहती हैं लेकिन मानव को खुद जीवित रहने के लिए और अपनी सन्तान का पालन करने के लिए हर वस्तु का मूल्य चुका कर साधन जुटाने होते है।

मनुष्य इस आशा से सब साधन जुटाता है कि जब वह बुढ़ापे में अशक्त

हो जाएगा तो उसकी सन्तान उसके असहाय काल में उसका सहारा बनेगी। जब उसकी सन्तान उसे सहारा नहीं देती तो उसे निराशा होती है।

इस शताब्दी का मानव कम सन्तान का पक्षधर बना है। इससे विश्व की जनसंख्या को सीमित करने में सहायता मिली है लेकिन व्यक्ति के सन्तति-निरोध के लिए किए गये प्रयत्नों का उद्देश्य जनसंख्या को सीमित करना नहीं है वह इसलिए है कि ऐसा करने से उसे सुविधा महसूस होने लगी है। उस सुविधा का कारण पहले के मुकाबिले में बदली हुई नयी स्थिति है। अब पहले जैसा समय नहीं रहा कि वह अपनी सन्तान का विधाता स्वयं बन जाए। उसे बिना पढ़ाए लिखाए जीविकोपार्जन के काम में लगा दे और जब चाहे उसे मार पीट दे।

बहुत से राष्ट्रों में अब शासन ने माता पिता पर सन्तान के पालन पोषण सम्बन्धी बहुत से कर्त्तव्य लाद दिए हैं और उनसे सन्तान के साथ मनमाना व्यवहार करने के बहुत से अधिकार छीन लिए हैं। ऐसी स्थिति में समग्र प्रेम के एक अंश वात्सल्य के तकाजे के अनुसार मानव एकाध सन्तान जनन का कष्ट तो सहन कर लेता है लेकिन वह बुद्धिमानी इसमें समझता है कि वह उस तकाजे की पूर्ति के लिए जन जनाए कुत्ते बिल्लियाँ व कबूतर पाल ले। सन्तान के ये नये पर्याय स्वीकार कर लेने वाले बुद्धिमानों की संख्या जिस समाज में बढ़ी है, उस समाज में सैर करते हुए माता का अपने शिशु को लेकर चलना फूहड़पन समझा जाता है और मनपसन्द पशु को साथ लेकर घूमना फैशन बन गया है। बच्चा धाय के हवाले कर दिया जाता है और अपने प्रिय पशु को अपने हाथ से पाला सँवारा और दुलारा जाता है।

यह सब देखकर जिज्ञासु के मन में यह प्रश्न उपजता है कि ममता क्या है? यह भावना सन्तान के हित के लिए है या अपने मानसिक-तन्त्र के लिए है?

ममता का आधार 'सन्तान' खुद माता पिता को इसलिए प्यार करता है कि उनसे उसकी आवश्यकताएँ पूरी होती रहती हैं। उनके पास उसे सुरक्षा की अनुभूति होती है वरना शुभ चिंतक होने के नाते माँ-बाप अपनी सन्तान की स्वतन्त्रता का जितना हनन करते हैं उस कारण से सन्तान उनसे प्रेम की अपेक्षा घृणा करती है। वह अपने माता-पिता के प्रति तब तक घृणा छुपाए रहती है और प्रेम करती रहती है, जब तक उसे घर से बाहर के संसार में सुरक्षा का आश्वासन नहीं मिल जाता। ...

आश्वासन मिलते ही वह प्रेम की झिल्ली उतार कर अपने सुख के लिए जो ठीक समझती है कर गुजरती है।

नारी प्रेम मयी कही जाती है। उसका कारण यह है कि वह पुरुष की अपेक्षा अधिक अशक्त अधिक असहाय होने के कारण भयभीत रहती है। उसे आश्रय चाहिए। पिता भाई पति या सन्तान का आश्रय। उनसे निराश्रित हो जाने की आशंका उसे प्रेम मयी बनाए रखती है। किसी युग में यदि वह पति के बाद सती हो जाती थी तो उसका कारण पति प्रेम नहीं होता था बल्कि वह इसलिए सती होती थी कि उसे ऐसा करने के लिए समाज विवश करता था। यदि वह समाज के उस आग्रह को टाल कर जीना भी चाहती थी तो उसका वह जीना मरने से बत्तर होता था। पहाड़ सा लम्बा दुष्कर जीवन तिलतिल करके बिताने की अपेक्षा स्वेच्छा दिखा कर मर जाना उसे सरल लगता था। अत वह जीवन भर दुखी होने की बजाय मर कर अमरता प्राप्त कर लेती थी।

पूर्वीय-समाज की नारी के बलिदान और सहिष्णुता की गाथाएं प्रसिद्ध हैं। पति के क्रूरतापूर्ण व्यवहार के बावजूद वह पति का अमंगल नहीं चाहती रही। उसकी इस सहनशीलता का कारण सामाजिक परिस्थिति थी। उस परिस्थिति में विधवा कहलाने की बजाय क्रूर पति की पत्नी होकर सधवा कहलाना हर लिहाज से अच्छा था।

प्रेम का आधार आत्म प्रेम सिद्ध करते हुए उन व्यक्तियों का ध्यान भी आता है जिन्हें दूसरों के हित चिन्तन में मानसिक संतोष प्राप्त होता है। ध्यान देने की बात यह है कि वे दूसरों का हित इसलिए करते हैं कि इससे उन्हें मानसिक संतोष मिलता है। दूसरों को दुखी देख कर उन्हें जो सन्ताप होता है उससे त्राण पाने के लिए वे दूसरों को सुखी बनाने की चेष्टाएं करते हैं।

एक व्यक्ति किसी प्यासे को पानी पिलाता है भूखे को रोटी देता है, या निराश्रित को आश्रय देता है उन सभी निःस्वार्थ कार्यों की तह कहीं-न कहीं आत्म-सुख है। या उसे यश की आवश्यकता है या उसके धर्म में लिखा है कि परोपकार के ऐसे कार्यों के बदले में उसे मरणोपरान्त सुख मिलेगा। एक बार व्यक्ति को, जब दूसरे का हित करके मानसिक आनन्द मिल जाता है तो उस आनन्द का जब नाद आह्लादन करने के लिए वह परोपकार के काम करने लगता है। इस प्रकार वह पर हित चिन्तन का अभ्यस्त बन जाता है। अभ्यस्त बन जाने के बाद जब कभी भूल से उससे किसी का

अहित हो जाता है तो उसे मानसिक दुःख होता है। उस असह्य-दुःख से बचने के लिए वह यथासम्भव किसी का अहित नहीं करता।

जो व्यक्ति यह खुल कर कहता है 'मैं अपना लाभ प्रथम देखूंगा। अपने लाभ के लिए किसी की हानि करने से भी नहीं चूकूंगा। उसे हम स्वार्थी कहते हैं और जो कहता है—'मैं अपने लाभ के लिए किसी का अहित न करूँगा बल्कि दूसरे के लाभ के लिए अपना ही अहित कर लूंगा।' उसे हम परमार्थी कहते हैं। इन दोनों के कथन में मूलभूत अन्तर यह है कि एक नकद लाभ चाहता है दूसरा उधार पर जीवित रहता है। परमार्थी इस आशा से पर हित करता है कि परमात्मा उसका बदला उसे देगा। इस आशा से उसे सान्त्वना मिलती है। यदि उसके बदले में उसे अपने जीवन में यश या और कोई पुरस्कार मिल जाता है तो उसका अभ्यास और भी पक्का हो जाता है। यदि वह पुरस्कार नहीं भी मिलता तो उसकी प्राप्ति की प्रतीक्षा में उसे जो क्षणिक सुख मिलता है वही उसके लिए पुरस्कार बन जाता है।

परमार्थी बेशक अपने मानसिक सुख के लिए पर हित चिन्तक बना रहता है लेकिन उसके इस उधार के स्वार्थ में समाज के अन्य व्यक्तियों का हित होता रहता है। इसलिए समाज उसका कृतज्ञ होता है। समाज के कृतज्ञ होने में वास्तव में समाज का स्वार्थ होता है। वह यों कि पर हित चिंतकों के अस्तित्व के कारण ही समाज का ढांचा ठीक से खड़ा रहता है। यदि समाज उसके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन करता है तो परमार्थी पर अहसान नहीं करता। यही एक उपाय है जिससे पर हित चिंतकों को परोपकार भाव की प्रेरणा मिलती है और समाज की कृतज्ञता का पात्र बनने की आशा के कारण पर दुःख कातर व्यक्तियों का क्रम टूटने में नहीं आता।

इंद्रिय गत प्रेम ही नैसर्गिक है, लेकिन कोई मत यदि अर्जित प्रेम से नैसर्गिक प्रेम की महत्ता अधिक सिद्ध करके, समाज म नर-नारी के गम्यागमन के सम्बन्ध म प्रचलित नियमो की अवहेलना करने का आग्रह करता है तो ऐसे मत का खण्डन करना अनिवार्य है। वह इसलिए कि अर्जित समझी जाने वाली प्रेम की विधाओ ने मानव जीवन की एक रसता का कम करने म योग दिया है। इन विधाओ न मानव को कई प्रकार सुखो से परिचित कराया है।

एक स्त्री का अपने पति के साथ शैया पर बैठने से जिस प्रकार का सुख मिलता है, वह सुख उस सुख स भिन्न होता है जो भाई की सुहागरात के काल म भाई और भावज को एक कमरे म बन्द कर देने से उसे मिलता है। बेशक यह सुख सामाजिक वातावरण-जनित अर्जित सुख है लेकिन यह भी हम मानना होगा कि नर मादा का नैसर्गिक प्रेम इस सुख का पर्याय नही बन सकता। नैसर्गिक प्रेम और अर्जित प्रेम का सुख अलग अलग किस्म का है। दोनो प्रकार के सुख की अनुभूतिया को तीखा बनाने के लिए समाज ने गम्यागमन सम्बन्धी नियम बनाए हैं। उन नियमो के प्रभाव म रहने वाला पुरुष नारीत्व-गुण से सम्पन्न किसी स्त्री को देख कर उत्तेजित होने स पहले यह जाच कर लेना चाहता है कि कही वह स्त्री उसके सामाजिक रिवाज के अनुसार अगम्य तो नही।

एक बडा और वर्ग है जो खुद को अधिक आधुनिक समझता है। वह वर्ग नर मादा के नैसर्गिक प्रेम म बाधा डालने वाले गम्यागमन सम्बन्धी नियमो को अवांछित तत्व समझ कर एक उन्मुक्त समाज का मूर्त रूप देना चाहता है लेकिन अपनी कल्पना म लीन वह वर्ग शायद नही जानता कि वैसा उन्मुक्त समाज हमारे इस भूमण्डल पर विद्यमान है। उस समाज मे जाने का प्रत्येक इच्छुक व्यक्ति नैसर्गिक प्रेम पाने की कल्पना म लीन वहा पहुँचता है। कुछ अर्से वहाँ रहकर प्रेम की केवल एक विधा से ऊबकर या तो अपनी पुरानी दुनिया म लौट आता है या नींद की गोलियाँ अधिक सख्या म खाकर सदा की नीद सो जाता है।

ऐसे ही उन्मुक्त समाज की एक नारी हालीवुड की प्रख्यात अभिनेत्री मैरेलिन मनरो की आत्म हत्या की खबर कुछ वर्ष पूर्व अखबारो म छपी थी। यह दुर्घटना मनरो के जीवन-काल म उस समय हुई जब वह लोकप्रियता और सम्पन्नता के उच्चतम शिखर पर थी। उसे वह सब कुछ प्राप्त था जो किसी भी युवती के सपनों मे सजोया होता है फिर भी उसने आत्म

हत्या कर ली। कारण ? कारण उसके बहुत बताए जाते रहे लेकिन वास्तविक कारण वह था जो अधिक प्रचलित न था। वह कारण था यह कि वह जब से जवान हुई, उसका प्रेम की केवल एक विधा से साक्षात्कार रहा। वह था यौन सम्बन्धों पर आधारित नैसर्गिक प्रेम। उसमे मादा गुण कूट कूट कर भरे हुए थे इसी कारण वह करोड़ो दिलो की रानी बनी हुई थी। मादा के अतिरिक्त वह जो कुछ होने की कामना करती रही उसकी वह कामना पूरी न हो सकी थी। प्रेम की केवल विधा से ऊब कर उसने अपने आपको खत्म कर दिया।

अलग अलग दायरो मे विकसित होने वाले प्रेम की अलग अलग विधाओ म सामाजिक मानस रस लेता रहा है। समाज ने व्यक्ति को बताया है कि एक दायरा पत्नी के लिए है उस दायरे म उसे यौन सम्बन्ध अवश्य रखना है। यदि वहा वह यौन सम्बन्ध नही रखता तो समाज को आपत्ति होती है। अन्य दायरा म से कोई माता या पुत्री या पिता या मित्र या मित्र पत्नी का है। वहाँ अगर यौन सम्पर्क की इच्छा हो तो भी उस इच्छा को दबाना है। मात्र अयौन सम्बन्ध रखना है।

इस प्रकार के दायरा मे सीमित प्रेम की विधाए एक ओर व्यक्ति को ऊबने से बचाती है और दूसरी ओर ये विधाएँ प्रेम को अलग अलग दिशाओं म विकसित होने का अवसर देकर हर विधा के प्रेम की अनुभूति को अधिक तीव्र बनाती है।

इन्द्रियगत-प्रेम और इन्द्रियातीत-प्रेम

इन्द्रियगत प्रेम उसे कहा जाता है जो इन्द्रिया के प्रति हो या जो इन्द्रियों की माँग पर आधारित हो। इन्द्रियातीत प्रेम उसे कहते हैं जो इन्द्रियों को वाहन बनाए बिना फलता फूलता हो। उपदेशक-वग इन्द्रियगत-प्रेम को निकृष्ट और इन्द्रियातीत प्रेम को श्रेष्ठ सिद्ध करता रहता है। उसके मतानुसार इन्द्रियातीत प्रेम ही स्थायी हो सकता है।

पाँचो ज्ञानेन्द्रिया[1] और पाँचो कर्मेन्द्रियों[2] म से किसी को वाहन बनाए बिना न तो प्रेम हो सकता है न ही विकसित हो सकता है। अत शुद्ध रूप से इन्द्रियातीत प्रेम का होना असम्भव है।

प्रेम पात्र को देखने की कामना करना, उस उसके बारे म सोचना उसे छूने चूमने और प्राणो म बसाने की कामना करना स्वाभाविक है। हो सकता है यह कामना फलीभूत न हो लेकिन यह कामना होती अवश्य है। कामना के होने से आशय यह है कि प्रेमपात्र कुछ सीमा तक ज्ञानेन्द्रियो के सम्पर्क म है कर्मेन्द्रिया के सम्पर्क म नहीं आया। उस स्थिति को हम

१ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ये कही गयी हैं—श्रोत्र त्वचा नेत्र रसना और घ्राण।

२ और कर्मेन्द्रियाँ ये—वाक हस्त पाद उपस्थ और गुदा।

अपेक्षाकृत इन्द्रियातीत प्रेम कह सकते हैं। यह अपेक्षाकृत इन्द्रियातीत प्रेम इन्द्रियगत प्रेम के मुकाबिले में अधिक स्थायी होता है। वह इसलिए कि जब तक प्रेम-पात्र स्थूल इन्द्रियों के निकट सम्पर्क में नहीं आता तब तक उसके दोषों का ज्ञान नहीं होता। मात्र गुण सामने रहते हैं। ज्यों ही वह इन्द्रियगत होता है उसके दोषों का ज्ञान भी होने लगता है, इसलिए प्रेम में कमी आ जाती है।

अपेक्षाकृत इन्द्रियातीत प्रेम में गलत फहमी के पनपने के लिए गुंजाइश होती है, लेकिन इन्द्रियगत में नहीं होती। यहाँ युगल प्रेमी लला मजनू की मिसाल लेते हैं। जैसा कि उनकी प्रेम-कहानी में वर्णित है कि वे दोनों प्रेमी आपस में मिल न सके। जीवनभर मिलने के लिए प्रयत्न करते रहे। उनका वह प्यार अपेक्षाकृत इन्द्रियातीत कहा जा सकता है। कल्पना कीजिए कि यदि वे मिल जाते। उनकी कामना के अनुसार उन दोनों का विवाह भी हो जाता, तो क्या उनकी गृहस्थी आदर्श होती? शायद नहीं। यदि वे दोनों बिना किसी प्रयत्न के, बिना किसी तीव्र चेष्टा के मिल गये होते तो बात दूसरी होती, लेकिन यह मिलन समाज द्वारा तिरस्कृत होने और ईंट पत्थरों की वर्षा सहने के बाद होने वाला था। इन स्थितियों से निकलकर प्रेयसी प्राप्त करने वाले मजनू के सोचने का ढंग उन आम प्रेमियों के सोचने के ढंग से जुदा होता जिन्हें बिना अधिक प्रयत्न किए प्रेयसी प्राप्त हो जाती है। समाज से टक्कर लेकर अपनी बुरी हालत बनाकर मजनूँ जिस लला को पाता वह स्थूल लला कल्पना में बसी लला से भिन्न होती। कहाँ वह गुणों की खान काल्पनिक लला और कहाँ मानवीय कमजोरियों से भरी वास्तविक लला। उस लला के साथ कुछ अर्सा गुजार कर मजनू मन-ही मन अपनी मूर्खता पर पछताता कि वह क्यों वर्षों उस हाड मास की पुतली की प्राप्ति के लिए अपनी जवानी बर्बाद करता रहा।

एतिहासिक समझे जाने वाले पात्रों के प्रेम की शव परीक्षा अनुमान के बल पर करना शायद मेरी अनाधिकार चेष्टा समझी जाए, इसलिए एक नितान्त काल्पनिक कहानी प्रस्तुत करता हूँ।

एक स्त्री का एक पुरुष से विवाह हो जाता है। प्रथम समागम से पूर्व, उसके पति को परदेश जाना पड़ता है। पति का इस प्रकार बिना यौन-सुख का विनिमय किए चल देना पत्नी को नहीं सुहाता, लेकिन मजबूरी है। मजबूरी के साथ यह आशा भी है कि परदेश से आने के बाद उसे सहवास का आनन्द मिलेगा। एक एक दिन करके वह वर्षों अपने पति की प्रतीक्षा

करती रहती है। अपने सतीत्व की धरोहर को सम्भाले रहती है कि उसके आते ही उसे भेंट करेगी। उसके परदेश से लौटने की खबर आती है। उस खबर से उसके आनन्द का पारावार नहीं रहता लेकिन किसी दुर्घटना के कारण अपने घर की ओर लौटते हुए रास्ते में ही पति का देहान्त हो जाता है। अब उसके शोक का पारावार नहीं रहता। पति का जो चित्र उसने अपने मानस मन्दिर में बनाया हुआ होता है वह अमिट हो जाता है। उसकी याद ताज़ा रखने के लिए वह उसके नाम पर अपनी हैसियत के अनुसार कोई मन्दिर भवन या प्याऊ बनवाती है। यदि सामाजिक रिवाज के अनुसार वह कोई दूसरा विवाह करती भी है तो उसके प्रथम पति की सुखद याद फिर भी उसके मन पर छायी रहती है।

इस कहानी के अन्तिम भाग में परिवर्तन करके उसे दुखान्त की बजाए सुखान्त बनाने का यत्न करते हैं। यानी यू कहते है कि पति परदेश से सकुशल लौट आता है। विवाह के वर्षों बाद पति पत्नी को सुहागरात मनाने का अवसर मिलता है तो पत्नी को ज्ञात होता है कि उसका पति वास्तव में नपुंसक है। इस समय उस स्थिति की कल्पना कीजिए कि उस कहानी की नायिका की मानसिक स्थिति क्या हो जाएगी। शायद यह होगा कि पत्नी को ज्योंही ज्ञात होगा कि उसका पति नपुंसक है तो वर्षों से बिना समागम के रहने वाली नारी को यौन सुख की आवश्यकता का तुरन्त बोध होने लगेगा। पति के निकम्मा होने से पहले उसके मन में उसके लिए जो श्रद्धा या प्रेम का भाव बसा होगा वह मिट जाएगा। उसका स्थान घृणा ले लेगी। बिना समागम वर्षों काट चुकने वाली नारी अब एक भी क्षण बिना समागम के न रह सकेगी। हो सकता है वह पति की हत्या कर दे या आत्म-हत्या कर ले या व्यभिचारिणी बन जाए या पागल हो जाए। यदि उसकी स्थिति यह सब करने के योग्य न होगी तो कम से कम वह पति से घृणा अवश्य करने लगेगी।

सुहागरात से पहले का पति के प्रति पत्नी का जो प्रेम था वह अपेक्षाकृत इन्द्रियातीत था, लेकिन वह इन्द्रियगत होने की आशा पर फल फूल रहा था। आशा जब तक टूटी नहीं, तब तक प्रेम में स्थायित्व रहा। आशा के समाप्त होते ही स्थायी प्रेम अस्थायी बन गया।

जरूरी नहीं कि हर इन्द्रियगत प्रेम अस्थायी रहे। जब दो समान मानसिक धरातल वाले, मिलती जुलती रुचियों वाले, लगभग एक जैसी यौन-सामर्थ्य वाले, एक जैसी सामाजिक स्थितियों वाले व्यक्तित्व मिलते हैं

तो उनका प्रेम इन्द्रियगत होने के बावजूद स्थायी हो सकता है।

कई बार ऐसा भी देखा गया है कि उपर्युक्त समानत्व के न होने पर भी इन्द्रियगत प्रेम स्थायी होता है। वह तब होता है जब व दोनो प्रेमी या उन म से कोई एक नय प्यार का जोखिम न ले सकता हो या प्यार टूटने से होने वाली लोक निन्दा से डरता हो। इस किस्म का कोई और भय, या कोई लाचारी भी प्रेम म स्थायित्व लाने का कारण बन सकती है।

प्रेमावेग

आचाय रामचन्द्र शुक्ल 'लोभ' और 'प्रीति' को एक ही वग के दो मनोविकार मानते हैं। उनके कथनानुसार—वस्तु के प्रति होने वाला 'प्रेम लोभ है। व्यक्ति के प्रति होने वाला लोभ प्रीति है'[1]।

किसी वस्तु या व्यक्ति का अच्छा लगना प्रेमी के मन म प्रेम के उत्पन्न होने का कारण बनता है। लेकिन मन म उत्पन्न हुए प्रेम का तब तक अन्य लोगो को ज्ञान नही हो सकता जब तक प्रेमी प्रेम पात्र को पाने का या उसके निकट होने का प्रयत्न नहीं करता।

वस्तु या व्यक्ति का अच्छा लगना प्रेम की सामान्यावस्था है। सामान्यावस्था मे प्रेमपात्र की ओर अग्रसर होने म प्रेमी गतिशील नही होता। गतिमान करने वाली अवस्था भावावेग की अवस्था होती है। भावावेग की वह अवस्था बिना ग्रन्थियो के तीव्र स्रवन के नहीं आती।

वस्तु और व्यक्ति के प्रति होने वाले प्रेम की कोटियो म अन्तर होता है। यदि प्रेम वस्तु के प्रति होता है तो उसे प्राप्त करने का आवेग तब तक

---

१ रामचन्द्र शुक्ल कृत पुस्तक चिन्तामणि भाग—१ म सकलित निबन्ध लोभ और प्रीति'।

कायम रहता है जब तक वह वस्तु प्राप्त नहीं हो जाती। इच्छित वस्तु के प्राप्त होते ही व्यक्ति का वह आवेग शान्त हो जाता है। यह आवेग हल्का सा होता है, लेकिन व्यक्ति के प्रति होने वाले प्रेम का आवेग अधिक तीव्र होता है, यह आवेग प्रेमपात्र को पा लेने के बाद भी शान्त नहीं होता। क्योंकि व्यक्ति का उपयोग, वस्तु के उपयोग से अलग किस्म का होता है।

यदि इच्छित व्यक्ति को पाने का ध्येय उससे यौन सुख पाना हो तो प्रेमपात्र को पा लेने के बाद प्रेमी उसका स्पर्श करना चाहता है। आवेगावस्था में मात्र स्पर्श से सन्तोष नहीं मिलता। तभी स्पर्श को घर्षण का रूप दे देता है। साधारण घर्षण से जब उसकी तसल्ली नहीं होती तो वह दांतों और नाखूनों का प्रयोग करने लगता है। अगर आवेग अत्यन्त तीव्र हो तो वह दांतों और नाखूनों का काम शस्त्रों से लेने लगता है।

भाव को आवेग का रूप देने वाले ग्रन्थि रसों के तीव्र स्रवण के कारण व्यक्ति में पहले से अधिक शक्ति समा जाती है। उपरोक्त प्रकार की क्रियाओं को शक्ति-हनन का माध्यम बनाकर व्यक्ति शक्ति का क्षरण करता है। जब घर्षण अथवा नख-दन्त आदि के प्रयोग द्वारा उसकी अतिरिक्त शक्ति का नाश हो चुकता है तो वह सामान्यावस्था तक पहुँच जाता है। बिना इस प्रकार की तीव्र क्रियाओं के उस आवेग का शमन नहीं हो सकता।

उपर्युक्त चित्रण यौन सम्बन्धों पर आधारित प्रेम के आवेग का है लेकिन प्रेम के वे रूप भी होते हैं जो यौन सम्बन्धों पर आधारित नहीं होते। प्रेमावेग के उन रूपों में इतनी तीव्रता नहीं होती कि व्यक्ति आवावेश में प्रेमपात्र को नोचने-काटने लगे लेकिन आवेगी-व्यक्ति का आचरण सामान्य-व्यक्ति के आचरण से अलग अवश्य हो जाता है।

विवाह काल में कन्या को विदा करते समय लड़की के सम्बन्धियों की आंखों में आंसू आ जाते हैं। ये आंसू प्रेमावेग का शमन करने में सहायक होते हैं।

माता का अपने शिशु के प्रति प्यार होना स्वाभाविक होता है। जब तक वह आवेगावस्था में नहीं होता तब तक उसके होने का उसे भान नहीं होता। जब बाहर की किसी प्रेरणा से उस प्यार का उद्दीपन होता है तो माता शिशु को छाती से लगा लेती है। उद्दीपन अधिक होता है तो उसे भींच लेती है। उसके बाद मुख कपोल आदि से अपने अंगों का स्पर्श

करने लगती है। चूमने लगती है। चूमते चूमते हल्का-सा काट भी लेती है। आवेग यदि फिर भी शान्त न हो तो बड़ी अजीब स्थिति में पड़ जाती है। यौनावेग से सम्बन्धित प्रेम में तो चुम्बन, घर्षण के बाद भी राह बन्द नहीं होती। दन्त और नख का प्रयोग करके प्रेमपात्र के लिए अधिक कष्टकर बनकर प्रेमी अपनी शक्ति का विक्षेप कर सकता है लेकिन यहाँ अवस्था दूसरी होती है। प्रेमी होती है ममतामयी माँ और प्रेमपात्र होता है निरीह शिशु। बिना कष्टकर बने या बिना हानि पहुँचाए आवेग का शमन सम्भव नहीं होता। उस अवस्था में हानि पहुँचाने के लिए वह अपने बच्चे का अच्छा-सा प्यारा सा नाम बिगाड़ कर भाड़ा मा अपमानजनक नाम रख देती है। चहेते बच्चों का नाम बिगाड़ने के पीछे आवेग की यही अवस्था काम करती है।

यौन क्षेत्र में आवेग की तीव्रावस्था में प्रेमी अपने प्रेम पात्र के यौनांगों का क्षत् विक्षत करके 'घर्षकामी' विशेषण धारण करता है वात्सल्य के क्षेत्र में घर्षकामी के आवेग जितने तीव्रावेश धारण करने वाले माता पिता अपनी सन्तान के यौनांगों का दूसरे तरीके से क्षत विक्षत करते हैं। वे प्रेमावेश में आकर व्याकरण में वर्णित लिंगभेद सम्बन्धी नियमों की अवहेलना करके अपने पुत्र को पुत्रीवत बुलाने लगते हैं और पुत्री को पुत्रवत।

जोशीले मित्रों का परस्पर गाली-गलौच भरी शब्दावली का विनिमय करना, भक्त का अपने इष्ट को माखनचोर कालाकलूटा या कमली वाला जैसे अपमानजनक विशेषणों से विभूषित करना जनता का अपने नेता को, किसी जीत के अवसर पर श्रद्धावश अपने कन्धों पर उठा लेना—ये सब प्रेम भावना के आवेश की अवस्थाएँ हैं। आवेशजनित ऐसी उग्र क्रियाओं के बिना प्रेमावेग का शमन हो नहीं सकता।

स्पष्टीकरण

ैक्स की विकृतियां का उल्लेख कम होना चाहिए चकि य भस्वस्थ अतिरेकी प्रवत्तिया हैं।

ाकर माचवे ने य शब्द इसी पुस्तक क बारे म कहे हैं। अपना ा करते हुए डाक्टर माचवे आगे लिखते हैं

ो प्रवाही और सरल भाषा में उच्च-स्तर की सुरुचिपूण पुस्तक, जो ज मे बन्ती हिंसा प्रियता और अराजकता की कारण मीमांसा म ोगी सिद्ध होगी।

ी के तथा अन्य विद्वानों के इस प्रकार के सराहना भर शब्दों रचना का शृंगार समझ कर प्रकाशित होने दिया है। ा ग्रश पर माचवे जी ने तथा अ य विद्वानों ने मतभेद प्रकट े बारे में अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना आवश्यक समझ ।

ाचवे के अभिमतानुसार इस पुस्तक की त्रुटि यह है कि इसमें विकृतियां में उल्लेख अधिक हुआ है। मुझे ऐसा किन विवशताओं के कारण करना पडा है यह बता देने से शायद मुझे इस दोष से मुक्ति मिल जाए।

बेशक इससे इन्कार नहीं है कि काम की विकृतियां अस्वस्थ और अतिरेकी प्रवत्तियां हैं। लेकिन दिक्कत यह है कि स्वस्थ प्रवृत्ति का अनुशीलन हो नहीं सकता। स्वस्थ मानस वाला सामाजिक व्यक्ति अपनी भावनाओं और आवेगों का सुराग लगने नहीं देता। विद्वान अनुशीलन कर्ता उन व्यक्तियों को अनुशीलन का पात्र बनाता है जिनके आवेग सयत अवस्था म नहीं होते। आवेग की असयत अवस्थाएं ही विकृतियां होती हैं।

डा० माचवे अपने पत्र म आगे लिखते हैं—

> मुझे लगा कि पश्चिम के स्वर (स्वच्छन्द) यौनाचार और सादवाद से उत्पन्न हिंसाप्रियता को अपने अपना लक्ष्य बनाया है। भारत के महानगरों म ये समस्याए उभरने लगा हैं परन्तु अभी तीन चौथाई समाज जो गाँवों म है वह रूढ़ वर्जनाओ से ही दबा पड़ा है। उसका भी विवेचन होना चाहिए था।

पश्चिम के जो राष्ट्र औद्योगिक और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हैं उनकी हर अदा की नकल करने की प्रवृत्ति हमारे देश के समृद्ध-व्यक्तियो म बढ़ रही है। उन देशो म चूकि यौन स्वच्छाचार बढ़ा है इसलिए भारत म भी यौन स्वेच्छाचार को आदर की दृष्टि स देखा जाने लगा है। लेकिन वहाँ यौन आचरण पर से वर्जनाएँ घटा देने मे जो नयी समस्याएँ उभरी है उनकी ओर कोई नहीं देख रहा। उन समस्याओ का कारण सुझाने की चेष्टा म पश्चिमी जीवन का चित्रण इस पुस्तक म अधिक हुआ है।

यौन स्वेच्छाचार जनित सादवादी प्रवृत्ति अब तक यहा के महानगरो म पहुची है। ग्रामीण जनजीवन अब तक इसस मुक्त है। जिस गति से यह प्रवृत्ति अपने देश म आ रही है उसे देखते हुए यह अनुमान सहज म लगाया जा सकता है कि इसे जनजीवन तक पहुँचने म देर न लगेगी। सादवाद जनित हिंसा प्रियता जब तक पूर्णत स्वदेशी न बन जाए तब तक इसके बारे मे कुछ न कहा जाए ऐसा मुझे उचित नहीं लगा।

श्री यशपाल के विचारानुसार यह पुस्तक सामयिक है। व लिखते हैं —

> 'यौन-सम्बधी नाजुक परन्तु महत्वपूर्ण समस्याओ पर तटस्थ भाव से विचार उपयोगी होगा।

तटस्थ होना और तटस्थ दिखाइ देना—इन दोनों अवस्थाओ म भेद है। कोई भी व्यक्ति तटस्थ हो नहीं सकता। यह हो सकता है कि वह तटस्थ दिखे। सामान्य व्यक्ति को तटस्थ विचार वे ही मालूम पडते हैं जो उसके अपने विचारों स कुछ मिलत जुलते हो। जिन विचारो स उसके अपने विचारो का मिलान नही हो पाता उन्हें वह तटस्थ नही मानता। इस कथन के अनुसार यह तो प्रकट होता है कि यशपाल जी इस पुस्तक के कुछ कथ्यो स सहमत नहीं हैं किन्तु उन्होने उनकी ओर सकेत नही दिया है कि किन कथ्यो से सहमत नहीं हैं। लेकिन डा० राम विलास शर्मा ने उन अशों को चिह्नित किया है जिनसे उनकी असहमति है।

पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व शर्मा जी ने पुस्तक की पाण्डुलिपि पढ़कर उसकी भाषा सँवारने की कृपा की थी। भाषा सँवारना एक विषय है कथ्य विषय से सहमत होना या न होना दूसरा विषय है। दोनों विषयों का निर्वाह उन्होंने अलग अलग किया है।

> मैं काम शास्त्र का विशेषज्ञ नहीं हूँ अपनी ओर से यह स्पष्ट करते हुए डा० रामविलास शर्मा ने लिखा है— सातवें प्रकरण में आपने ब्रह्मचर्य सम्बन्धी प्रचार को अतिशय भोगवाद की प्रतिक्रिया कहा है। इतिहास में ऐसा कोई युग नहीं है जब पहले भोगवाद फिर ब्रह्मचर्यवाद आया हो। सामन्ती समाज में दोनों साथ-साथ चलते हैं—एक तरह का श्रम विभाजन राजा लोग पच्चीसों रानियाँ, दासियाँ रखकर भोग करें—ऋषि मुनि ब्रह्मचर्य मानें। पर साधारण गृहस्थियों के लिए नियम यह था कि २५ साल तक ब्रह्मचर्य फिर गृहस्थ धर्म अन्त में वानप्रस्थ और सन्यास

केवल सामन्ती समाज में ही नहीं हर समाज में भोगवाद और ब्रह्मचर्यवाद साथ साथ चलते हैं। इतना अन्तर अवश्य होता है कि किसी युग में किसी विशेष विचार या स्वर को आदर प्राप्त हो जाता है। जिस स्वर को जिस युग में विशेष प्रतिष्ठा मिल जाती है, वह स्वर उस युग का वाद बन जाता है लेकिन अन्य स्वर समाप्त नहीं होते अपवाद बनकर नक्कारखाने में तूती बन बजते रहते हैं। यही बात मैंने दूसरे शब्दों में चिन्तक की विवशता प्रकरण के अंतिम भाग में कही है।[1]

साधन सम्पन्न व्यक्तियों या वर्गों को हर युग में हमेशा यौन-स्वच्छाचार-सम्बन्धी छूट अधिक मिलती रही है, मिलती है। समाज के शेष सामान्य जन नियमों के दायरे में सीमित रहते हैं। जिस समाज के सामान्य जन चार आश्रमों जैसे नियमों में बंधे रहते हैं उस समाज को सन्तुलित समाज ही कहा जाना चाहिए। लेकिन जब उन सामान्यजनों में से बहुसंख्यकों के मन में काम भावना को 'पाप' मानने का विचार भर जाए तो उन जनों पर आधारित समाज को ब्रह्मचर्यवादी समाज कहा जाना चाहिए। जब सामान्य जनों की बहुसंख्या अनियमित होकर मन पसंद यौन सुख प्राप्त करना अपना अभीष्ट मान ले ऐसे समाज को भोगवादी समाज कहा जाना चाहिए। जिस तरह हर युग में हर समाज में कोई न कोई राजनैतिक-वाद प्रचलित होता है उसी प्रकार यौनाचरण के बारे में कोई न कोई वाद प्रभाव में रहता है। एक वाद के अत्यधिक प्रचलन

१ देखें पृष्ठ ११८।

डा० माचवे अपने पत्र में आगे लिखते हैं—

> मुझे लगा कि पश्चिम के स्वर (स्वच्छन्द) यौनाचार और सादवाद से उत्पन्न हिंसाप्रियता को आपने अपना लक्ष्य बनाया है। भारत के महानगरों में ये समस्याएं उभरने लगी हैं परन्तु अभी तीन चौथाई समाज जो गाँवों में है वह रूढ़ वर्जनाओं से ही दबा पड़ा है। उसका भी विवेचन होना चाहिए था।

पश्चिम के जो राष्ट्र औद्योगिक और आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न हैं, उनकी हर अच्छी की नकल करने की प्रवृत्ति हमारे देश के समय-व्यक्तियों में बढ़ रही है। उन देशों में चूंकि यौन स्वच्छाचार बढ़ा है, इसलिए भारत में भी यौन स्वेच्छाचार को आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा है। लेकिन वहां यौन आचरण पर से वर्जनाएँ घटा देने में जो नयी समस्याएँ उभरी हैं उनकी ओर कोई नहीं देख रहा। उन समस्याओं का कारण सुझाने की चेष्टा में पश्चिमी जीवन का चित्रण इस पुस्तक में अधिक हुआ है।

यौन स्वेच्छाचार जनित सादवादी प्रवृत्ति अब तक यहाँ के महानगरों में पहुँची है। ग्रामीण जनजीवन अब तक इससे मुक्त है। जिस गति से यह प्रवृत्ति अपने देश में आ रही है, उसे देखते हुए यह अनुमान सहज में लगाया जा सकता है कि इसे जनजीवन तक पहुँचने में देर न लगेगी। सादवाद जनित हिंसा प्रियता जब तक पूर्णतः स्वदेशी न बन जाए तब तक इसके बारे में कुछ न कहा जाए ऐसा मुझे उचित नहीं लगा।

श्री यशपाल के विचारानुसार यह पुस्तक शैक्षणिक है। वे लिखते हैं —

> यौन-सम्बन्धी नाजुक परन्तु महत्वपूर्ण समस्याओं पर तटस्थ भाव से विचार उपयोगी होगा।

तटस्थ होना और तटस्थ दिखाई देना—इन दोनों अवस्थाओं में भेद है। कोई भी व्यक्ति तटस्थ हो नहीं सकता। यह हो सकता है कि वह तटस्थ दिखे। सामान्यतः व्यक्ति को तटस्थ विचार वे ही मालूम पड़ते हैं जो उसके अपने विचारों से कुछ मिलते जुलते हों। जिन विचारों से उसके अपने विचारों का मिलान नहीं हो पाता उन्हें वह तटस्थ नहीं मानता। इस कथन के अनुसार यह तो प्रकट होता है कि यशपाल जी इस पुस्तक के कुछ कथ्यों से सहमत नहीं हैं किन्तु उन्होंने स्पष्ट और संकेत नहीं दिया है कि किन कथ्यों से सहमत नहीं हैं। लेकिन डा० राम विलास शर्मा ने उन अंशों को चिह्नित किया है जिनसे उनकी असहमति है।

मुझे कल्पना से काम इसलिए लेना पड़ा है कि इसके सिवाय कोई चारा न था। इसीलिए उस प्रकरण में मैंने 'ऐसा था' जैसा निश्चित् लहजा नहीं रखा वल्कि 'हुआ होगा' जैसा अनिश्चित् लहजा रखा है ताकि यह स्पष्ट होता रहे कि यह 'कल्पना' पर आधारित है, प्रत्यक्ष साक्ष्य पर आधारित नहीं है।

त्रैमासिक पत्रिका 'समीक्षा' के जुलाई, ६८ के अंक में डा० गोपाल राय ने अपनी लिखी हुई विस्तृत समीक्षा के एक अंश में इस पुस्तक में यह त्रुटि बताई है—

> *इसमें वैज्ञानिक प्रयोगों और परीक्षणों के आधार पर मौलिक निष्कर्ष* प्रस्तुत नहीं किये गये।

इस अवसर पर अपनी ओर से कुछ कहने की अपेक्षा डा० नगेन्द्र के अभिमत में से ये पंक्तियाँ उद्धृत करना मुझे सुविधाजनक प्रतीत हो रहा है—

> यह पुस्तक काम विज्ञान की अपेक्षा काम-दर्शन के अधिक निकट है। विज्ञान वह है, जिसे परीक्षणों द्वारा सिद्ध करके दिखाया जा सके। दर्शन वह है जिसे केवल तर्क द्वारा सिद्ध किया जा सके। अभी लेखक ने अपनी बात को तर्क द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। परीक्षित होने पर हो सकता है इसकी कुछ स्थापनाएं प्रमाण्य या अवैज्ञानिक समझी जाएँ लेकिन वे एक नयी दिशा की ओर संकेत करेंगी

श्री मन्मथ नाथ गुप्त, श्री राजेन्द्र यादव और मेरे कई अन्य मित्रों ने इसमें 'केस हिस्ट्रीज' का न होना पुस्तक की त्रुटि बताया है। उनके समक्ष अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने से, पूर्व पेरिस के 'ओरियन्टल लैंग्वेज स्कूल' के हिन्दी विभागाध्यक्ष श्री ब्लादिमीर मिल्लनेर के पत्र का एक उद्धरण प्रस्तुत करने की अनुमति चाहूँगा। श्री मिल्लनेर लिखते हैं—

> "इससे पहले इस विषय का कुछ विश्लेषण करते थे इसके बारे में आपने कुछ नहीं लिखा।

इस बारे में पुस्तक के प्राक्कथन में मैंने यह स्पष्ट किया है[1]—

'पुस्तक लिखते समय मैंने इस ओर बराबर ध्यान रखा है कि इसका *पाठक अब तक की छपी इस विषय की पर्याप्त-सामग्री पढ़ चुका है। मेरी* ओर से पूर्व प्रकाशित सामग्री का बार-बार हवाला देना उसे अखरता'।"

---

१ देखें पृष्ठ—११

मुझे कल्पना से काम इसलिए लेना पडा है कि इसके सिवाय कोई चारा न था। इसीलिए उस प्रकरण मे मैंने 'ऐसा था' जसा निश्चित् लहजा नही रखा बल्कि 'हुआ होगा' जसा अनिश्चित् लहजा रखा है ताकि यह स्पष्ट होता रहे कि यह 'कल्पना' पर आधारित है, प्रत्यक्ष साक्ष्य पर आधारित नही है।

त्रमासिक पत्रिका 'समीक्षा' के जुलाई, ६८ के अक म डा० गोपाल राय ने अपनी लिखी हुई विस्तत समीक्षा के एक अश म इस पुस्तक म यह त्रुटि बताइ है—

> इसम वज्ञानिक प्रयोगो और परीक्षणो के आधार पर मौलिक निष्कष प्रस्तुत नही किय गये।

इस अवसर पर अपनी ओर से कुछ कहने की अपेक्षा डा० नगेन्द्र क अभिमत म से य पक्तियाँ उद्धत करना मुझे सुविधाजनक प्रतीत हो रहा है—

> यह पुस्तक काम विज्ञान की अपेक्षा काम-दशन क अधिक निकट है। विज्ञान वह है, जिसे परीक्षणों द्वारा सिद्ध करके दिखाया जा सक। दशन वह है जिस केवल तर्क द्वारा सिद्ध किया जा सके। अभी लेखक ने अपनी बात को तक द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। परीक्षित होने पर हो सकता है इसकी कुछ स्थापनाएँ अमान्य या अवज्ञानिक समझी जाएँ लेकिन व एक नयी दिशा की ओर सकेत करेंगी

श्री मन्मथ नाथ गुप्त, श्री राजेन्द्र यादव और मेरे कई अन्य मित्रो न इसम केस हिस्ट्रीज' का ना होना पुस्तक की त्रुटि बताया है। उनके समक्ष अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत करनेसे, पूव पैरिस के 'ओरियन्टल लैंग्वेज स्कूल' के हिन्दी विभागाध्यक्ष श्री ब्लादिमीर मिल्लतनेर के पत्र का एक उद्धरण प्रस्तुत करने की अनुमति चाहूगा। श्री मिल्लनेर लिखत है—

> 'इसस पहले इस विषय का कुछ विद्वान विश्लेषण करत थ इसके बारे म आपने कुछ नही लिखा।

इस बारे म पुस्तक के प्राक्कथन म मैंने यह स्पष्ट किया है—

"पुस्तक लिखत समय मैंने इस ओर बराबर ध्यान रखा है कि इसका पाठक अब तक की छपी इस विषय की पर्याप्त-सामग्री पढ चुका है। मरी ओर से पूव प्रकाशित सामग्री का बार-बार हवाला देना उस अखरगा'।'

1 देखें पृष्ठ—11

श्री मिल्तनेर अपने पत्र में आगे लिखते हैं—

> "आपके निजी अनुशीलन में कई परिणाम बड़े महत्वपूर्ण हैं, फिर भी आप उनके प्रमाण नहीं देते। यदि प्रमाण दिए जाएं तो आपके परिणाम दूसरों से अधिक सम्मानित हो जाएं।"

श्री मन्मथ नाथ गुप्त और श्री राजेन्द्र यादव ने अपने अभिमत में 'केस हिस्ट्रीज' की जिस कमी का जिक्र किया है, श्री मिल्तनेर का वाक्यांश 'प्रमाण नहीं देते' सम्भवतः उसी कमी का अनुमोदन करता है। डा० गोपाल राय ने मनोवैज्ञानिक प्रयोगों और परीक्षणों के जिस अभाव की चर्चा अपनी समीक्षा में की है, उसका आधार भी इसी वाक्यांश में गर्भित है।

इस पुस्तक में मैंने केस हिस्ट्रीज नहीं दी लेकिन केसों की ओर संकेत अवश्य किये हैं। 'नग्नवाद', 'वेश्यागामी का दृष्टिकोण', 'नैसर्गिक और अर्जित प्रेम', 'नारी की श्रेष्ठ भावना' आदि प्रकरणों में मैंने कुछ केसों के उदाहरण दिए हैं। उनके साथ चूंकि व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ नहीं दी गयी, इसलिए वे उदाहरण पाठकों को प्रामाणिक नहीं लगे।

परीक्षणार्थ छपे प्रथम संस्करण के प्रकाशन के बाद मुझे अन्य जिन परिचित बन्धुओं से अपनी पुस्तक के बारे में बात करने का अवसर मिला है, उनसे मुझे यही ज्ञात हुआ है कि पाठक पर इस प्रकार के विवरण का प्रभाव अधिक होता है—

> अमुक नगर की अमुक बिल्डिंग में अमुक व्यक्ति से भेंट करके मैंने यह तथ्य पाया या 'इतने हजार व्यक्तियों से मिलकर मैंने ये आँकड़े प्राप्त किए।'

और किसी को क्या कहूँ, सच तो यह है कि जब मैं मनोविज्ञान विषयक पुस्तकों का पाठक बना था, तो मैं भी इस प्रकार की 'यथार्थ तथ्यों' से भरी पुस्तकों से अधिक प्रभावित होता था। लगभग दस वर्ष पूर्व जब मैंने इस पुस्तक को लिखने की रूपरेखा बनायी तो मेरे मन में यही था कि मैं सचमुच के कुछ व्यक्तियों से सम्पर्क स्थापित करूँगा और उनके कुछ उद्धरण उनके नाम सहित देकर पुस्तक में प्रामाणिकता की पुट दूंगा और पुस्तक का कलेवर जितना चाहूँगा बढ़ा सकूँगा।

यदि आप रांची नगर से प्रकाशित होने वाले 'हमारा मन' नामक पत्रिका के लगभग आठ दस वर्ष पूर्व के अंक देखें तो उनमें आपको इस आशय का एक छोटा सा विज्ञापन मिलेगा, कि काम विषयक एक पुस्तक

की रचना म मुझे आपके सहयोग की आवश्यकता है। अपने काम-सम्बन्धी अनुभव मुझे लिखें।

उसके बाद मेरा विचार कुछ इस्पतालों के "लैंगिक रोग विभाग' के रोगियों से मिलने का था। एक प्रश्नावली प्रचारित कराने का भी था। रोगियों से मिलकर पाये जाने वाले उत्तर और प्रश्नावली के उत्तर मे आए पत्रो के अध्ययन के उपरान्त किसी निष्कर्ष तक पहुँचने की पूरी यांत्रिक प्रक्रिया का जिक्र इस पुस्तक में करने का मैं इरादा रखता था। लेकिन वह सब करने का अवसर ही न आया। विज्ञापन के प्रकाशन के बाद जो पत्र मिले, उन्होंने मेरे इस कार्यक्रम को स्थगित करने के लिए मुझे विवश कर दिया। जो पत्र मिले, उनसे यही भान हुआ कि अधिकतर लोग अपना यौन सम्बन्धी अनुभव ठीक ठीक जानते नही और कुछ लोग लोक लाज के कारण ठीक ठीक बताते नही।

'लोग अपना यौन सम्बन्धी अनुभव जानते नही" यह बात सुनने में भले ही अजीब हो, लेकिन है सच। एक व्यक्ति जब किसी ब्रह्मचर्यवादी धर्मोपदेशक की या गुप्तरोग विशेषज्ञ की लिखी पुस्तक पढकर अपना अनुभव बताने लगता है तो वह कहता है—'वीर्य स्खलन के उपरान्त मेरी आँखो के आगे अंधेरा सा छा गया। मन मे ग्लानि सी उत्पन्न हुई कि क्षणिक सुख के लिए मैं कितना अभद्र कर्म करने के लिए तत्पर हो गया।' अन्य जो व्यक्ति आधुनिक यौनशास्त्रो की लिखी पुस्तक पढ़कर अपनी वीर्य स्खलनोपरान्त की स्थिति बताता है उसका कहना यह होता है—"लगा कि जैसे शरीर पर से एक अनावश्यक बोझ उतर गया। जैसे शरीर के प्रति एक परम कर्त्तव्य पूरा हुआ।"

एक ही क्रिया के बाद की ये दो अभिव्यक्तियां प्रकट करती हैं कि सामान्य व्यक्ति अपनी जो अनुभूति व्यक्त करता है, वह उसके भीतर से न उठ कर बाहर से निर्देशित होती है।

कुछ व्यक्ति जो अपनी अनुभूति को समझते हैं वे भी लोक-लाज के कारण उसे पूरी तरह प्रकट नही करना चाहते। उसका कारण यह है कि काम विषयक अपने अनुभव बताते हुए, पिछली सभी पीढियों ने झूठ बोल-बोल कर यौन क्षमता का जो आदर्श रूप प्रतिष्ठित कर रखा है उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको अधूरा समझने पर बाध्य होता है। खुद को अधूरा कहना वह लज्जा की बात समझता है अत वह अपनी यौन-सामर्थ्य बढ़ाकर (या कभी किसी विशेष आशय के कारण घटा कर)

बताता है। उसके इस प्रयत्न से झूठ का वह स्तम्भ और भी गहरा, और भी ऊँचा हो जाता है। वह स्तम्भ हर नये यौन चेतना-सम्पन्न व्यक्ति को मिथ्या भाषण के लिए उत्साहित करता है।

इस स्थिति को समझ लेने के उपरान्त मैंने पुस्तक का कलेवर बढ़ाने और इसे प्रामाणिक प्रकट करने का मोह त्यागकर अनुशीलन का मार्ग अपनाना श्रेयस्कर समझा लेकिन इस पुस्तक का प्रथम संस्करण प्रकाशित होने के बाद मैंने पाया कि विज्ञान के उस युग से 'अनुशीलन' की अपेक्षा परीक्षण की प्रतिष्ठा अधिक है। इस प्रतिष्ठा का इससे बड़ा प्रमाण और क्या मिल सकता है कि 'अनुशीलन शब्द' जिस पुस्तक के शीर्षक का अंश है, उसी के भीतरी पृष्ठों में पाठक प्रयोग और परीक्षण तलाश करता है।

प्रयोग और परीक्षण का महत्त्व अपनी जगह है, जिसे नकारा नहीं जा सकता लेकिन मैंने इतना अवश्य कहना है कि प्रयोग की बारी अनुशीलन के बाद आती है।

कई बार अनुशीलन-कर्ता अपनी धारणाओं को प्रयोग रूपी कसौटी पर स्वयं परखता है। कभी अनुशीलन और प्रयोग की दोनों प्रक्रियाएँ दो अलग अलग व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न की जाती हैं।

'प्रयोग' की सीमाओं का जिक्र किये बिना बात अधूरी रहेगी। उन सीमाओं को किसी परिभाषा में सीमित न करके, उन्हें विवरण द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न करता हूँ —

मन अनुकूलन सम्बन्धी इस धारणा को तो प्रयोगशाला में शायद परखा जा सकता है कि पुरुष के युव सुलभ बाल और नारी का रज एक दूसरे के पर्याय हैं या नहीं, लेकिन इस प्रश्न का उत्तर प्रयोगशाला में नहीं पाया जा सकता कि कोई व्यक्ति सामाजिक नियम तोड़कर बलात्कारी क्या बनता है या कोई हत्यारा किसी घर में घुस कर वहाँ बसने वाली आठ नर्सों की हत्या[1] क्यों करता है या एक सामान्य व्यक्ति के कामांग प्रदर्शनकारी बनने के पीछे कौन सी प्रेरणा है—इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का उत्तर देते समय 'प्रयोग' असहाय होता है लेकिन अनुशीलन सहाई बनता है।

फिर भी हमें मानना होगा कि 'प्रयोग' या 'परीक्षण' की प्रतिष्ठा समाज में अधिक है। शायद इसीलिए मानस शास्त्री अपने ज्ञान को प्रतिष्ठा दिलाने के लिए उसे विज्ञान की श्रेणी में लाने के उपाय सोचता

---

१ अमेरिका में सन् १९६७ में घटित हुई एक लोमहर्षक घटना की ओर संकेत है।

है। ऐसी मान्यताएँ जो प्रयोगशाला में परीक्षित नहीं की जा सकतीं, उन्हें सिद्ध करने के लिए वह 'आँकड़ा' का सहारा लेता है। आँकड़े एकत्र करने की प्रक्रिया को वह 'मनोवैज्ञानिक-परीक्षण' नाम देता है।

'मनोवैज्ञानिक-परीक्षण' और 'अनुशीलन' की कार्य विधि—तथा उन दोनों विधियों द्वारा प्राप्त उपलब्धियों की चर्चा यहाँ करनी आवश्यक है।

मनोविज्ञान-सम्बन्धी परीक्षण के अवसर पर परीक्षणकर्ता अपने माध्यम को बतलाता है कि मैं तुम्हारे अन्तरतम में झाँकने का प्रयत्न कर रहा हूँ, इसलिए तुम अपने आपको मेरे समक्ष खुला छोड़ दो। अपना कुछ भी मुझसे छुपाओ नहीं।

'अनुशीलन' करते समय माध्यम को यह ज्ञात नहीं होने दिया जाता कि तुम माध्यम हो। न ही उसे यह बताया जाता है कि तुम्हारे क्रिया कलाप पर किसी की दृष्टि गड़ी हुई है।

पहली दशा में माध्यम अपने आपको फोटोग्राफर के स्टूडियो में बैठे जैसा समझता है। वह अपनी सामान्य मुद्रा को कुछ सुधार सँवार कर प्रस्तुत करता है ताकि फोटो अच्छा आ सके। दूसरी अवस्था में माध्यम सामान्य अवस्था में रहता है। अपनी मुद्रा को वह कृत्रिम बनाने की चेष्टा नहीं करता।

मिसाल के तौर पर एक व्यक्ति सार्वजनिक स्थान पर खड़े होकर अपना अधोवस्त्र उतार देता है। परीक्षण-कर्ता ऐसी स्थिति में यह करता है कि वह उसे असामान्य व्यक्ति समझ कर एक चेम्बर में ले आता है। उसे बिठाकर पूछता है— तुमने अपने आपको जान बूझ कर नंगा क्यों किया? उसके उत्तर में कामांग प्रदर्शनकारी जो कहता है, परीक्षण-कर्ता उसे नोट कर लेता है। कई वर्गों के ऐसे अनेक प्रदर्शनकारियों से प्रश्न पूछ कर, वह उनके उत्तर एकत्रित करता है। ये उत्तर जब बहुत अधिक संख्या में एकत्र हो जाते हैं तो वे आँकड़ों को जन्म देते हैं।

आँकड़े प्रामाणिक समझे जाते हैं। प्रामाणिक इसलिए कि ये कल्पना-जनित नहीं होते। जीवित व्यक्तियों से मिलकर एकत्र किये जाते हैं। जिन व्यक्तियों से मिलकर एकत्र किये जाते हैं उनके नाम, पते मय वल्दियत के सुरक्षित होते हैं। चूंकि ये प्रामाणिक समझे जाते हैं इसलिए वे पहाड़े की तरह कण्ठस्थ भी किये जा सकते हैं।

दूसरी ओर अनुशीलन कर्ता किसी व्यक्ति को इस प्रकार सामने बिठा कर सीधा सवाल नहीं पूछता। वह इसलिए कि उसकी पहल से ही यह

धारणा होती है कि काम विषयक प्रश्नों के उत्तर लोग गलत देते हैं। इसलिए वह माध्यम से पूछने की बजाय अपने आपसे यह पूछता है कि ऐसी कौनसी कामना थी जिसे पूरा करने के लिए एक व्यक्ति को सामाजिक नियम तोड़ कर अपना अधोवस्त्र सबके सामने उतारना पड़ा।

हो सकता है अनुशीलक अपने आत्म प्रश्नोत्तर करके किसी गलत नतीजे तक पहुँचे लेकिन वह गलत-नतीजा नुकसान नहीं पहुँचाता। वह इसलिए कि काल्पनिक धरातल पर आधारित निष्कर्ष प्रामाणिक नहीं माना जाता। अनुशीलन कर्ता स्वयं भी 'शायद' 'सम्भवतः', 'अपेक्षाकृत' जैसे शब्दों की पुनरावृत्ति करके संशय की वह स्थिति उत्पन्न करता है जिसका फल यह होता है कि आगे के चिन्तन का मार्ग खुला रहता है। जबकि आँकड़ों द्वारा प्रदत्त निष्कर्ष निश्चित् लहजे में कहा जाने के कारण परवर्ती चिन्तन का मार्ग अवरुद्ध कर देता है लेकिन उसकी यह कमी व्यावहारिक-जगत में एक बड़ी खूबी समझी जाती है।

पुलिस रिपोर्टों में, कचहरी में, संसद जैसी सभाओं में, जहाँ प्रत्येक बात को मानसिक-स्तर पर परखने की किसी को फुरसत नहीं होती जहाँ प्रत्यक्ष साक्ष्य के बिना कुछ भी मानने में कठिनाई होती है, वहाँ आँकड़े ही काम आते हैं। आँकड़े चाहे सही धरातल पर आधारित हों या गलत धरातल पर लेकिन वे एक ही दिशा की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। दो और दो मिलकर चार वाला एक ही निश्चित् मत प्रकट करना आँकड़ों का गुण है। यह गुण अनुशीलन द्वारा प्राप्त निष्कर्ष में नहीं है।